

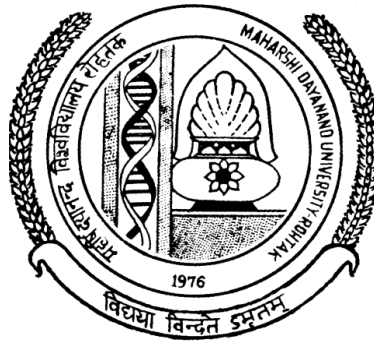
Bachelor of Arts (DDE)

Semester –IV

Paper Code – BA4006-IV

INDIAN GOVERNMENT & POLITICS – II

भारतीय सरकार और राजनीति – II



DIRECTORATE OF DISTANCE EDUCATION

MAHARSHI DAYANAND UNIVERSITY, ROHTAK

(A State University established under Haryana Act No. XXV of 1975)

NAAC 'A+' Grade Accredited University

Copyright © 2003, 2020; Maharshi Dayanand University, ROHTAK

All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Price : Rs. 325/-

Publisher: Maharshi Dayanand University Press

Publication Year: 2021

BACHELOR OF ARTS (SEMESTER-IV)
BHARTIYA SARKAR AND RAJNITI - II
PAPER CODE: BA4006-IV

Marks: 80

Time: 3 Hrs

Note: Examiner will be required to set NINE questions in all, four in part 'A' and four in Part 'B'. In part C, Question No. 9 is compulsory, consisting of 8 objective type questions of 2 marks each spread over the entire syllabus. In addition to question no. 9, candidate will be required to attempt 4 more questions, selecting two questions each from part 'A' and 'B'.

Part-A

Union Government: President, Parliament, Cabinet and Prime Minister.

Part-B

The Election Commission Electoral Reforms. Major issues in Indian Political, Caste, religion. Language Region, Poverty- Alleviation.

Part-C

Eight Object type questions (multiple choice) spread over the entire syllabus.

Suggested Readings

- G. Austin, The Indian Constitution: Corner Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution : The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D.D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D.D. Basu and B. Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C.R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.
- Chanda, Federalism in India: A Study of Union-State Relations, London, George Allen & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J. Harriss, Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B.L. Fadia, State Politics in India, 2 vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R.L. Hardgrave, India: Government and Politics in a Developing Nations, New York, Harcourt, Braqce and World, 1965.
- N.G. Jayal (ed.). Democracy in India, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) Indian Government and Politics, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- Kohli, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, Politics in India, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, Party System and Election Studies, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W.H. Morris Jones, Government and Politics in India, Delhi, BI Publications, 1974.
- A.C.Noorani, Constitutional Questions in India : The President, Parhament and the States, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, An Introduction to the constitution of India, New Delhi, 1998.
- Ray, Tension Areas in India's Federal System, Calcutta, The World Press, 1970.
- N.C. Sahn (ed.). Coalition Politics in India, Jullundher, New Academic Publishing Company, 1971.
- J.R. Siwach, Dynamics of Indian Government & Politics New Delhi, Sterting Publishers, 1985.
- R. Thakur, The Government & Politics of India, London, Macmillan, 1995.

Semester – IV

Syllabi – Book Mapping Table

भारतीय सरकार और राजनीति –II

इकाई संग्रह	विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
इकाई – 1	केन्द्रीय सरकार	5–64
	राष्ट्रपति भारतीय संसद तथा उसका कार्यकरण भारतीय प्रशासन में मंत्रिमण्डल की भूमिका प्रधानमंत्री	
इकाई – 2	भारत में चुनाव सुधार व भारतीय राजनीति में प्रमुख मुद्दे	65–136
	भारत में चुनाव सुधार जातिवाद धर्म एवं साम्प्रदायिकता भारतीय राजनीति में भाषा क्षेत्रीयतावाद गरीबी उन्मूलन	
इकाई – 3	वस्तुनिष्ठ प्रश्न राष्ट्रपति भारतीय संसद तथा उसका कार्यकरण भारतीय प्रशासन में मंत्रिमण्डल की भूमिका प्रधानमंत्री भारत में चुनाव सुधार जातिवाद धर्म एवं साम्प्रदायिकता भारतीय राजनीति में भाषा क्षेत्रीयतावाद गरीबी उन्मूलन	137–160

इकाई- 1

केन्द्रीय कार्यपालिका

1.0 इकाई परिचय

कानून बनाना, कानूनों को लागू करवाना तथा कानूनों की व्याख्या करना, उनका क्रियान्वयन एवं मूल्यांकन करना सरकार के महत्वपूर्ण कार्य हैं। आधुनिक प्रजातांत्रिक देशों में, ये कार्य विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका द्वारा किये जाते हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 79 के अन्तर्गत भारतीय संसद का गठन किया गया है। भारतीय संसद के अंतर्गत राष्ट्रपति और संसद के दो सदन सम्मिलित हैं। राष्ट्रपति राज्य का मुखिया एवं राष्ट्र का प्रतीक है। संविधान ने राष्ट्रपति को असीम शक्तियाँ प्रदान की हैं, लेकिन शासन करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। राष्ट्रपति केवल औपचारिक भूमिका निभाता है। जबकि प्रधानमंत्री के पास वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ होती हैं। प्रधानमंत्री मंत्रीपरिषद के मुखिया होते हैं। राष्ट्रपति मंत्रीपरिषद की सलाह पर ही कार्य करते हैं। मंत्रीपरिषद् वास्तविकरूप में कार्यपालिका होती है न कि राष्ट्रपति। संसदीय सरकार का भूलभूत तत्व प्रधानमंत्री और इसके कैबिनेट का संसद के प्रति उत्तरदायी होना है। संसद शासन नहीं चलाती बल्कि सरकार की नीतियों का आलोचनात्मक परीक्षण करती है तथा इसके उचित और अनुचित मानकर कार्यों की समीक्षा करती है।

प्रत्येक इकाई में अभ्यास प्रश्न भी दिए गए हैं। प्रत्येक इकाई को पढ़ने के बाद आप इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास कर सकते हैं। पाठ्यक्रम के अंत में कुछ महत्वपूर्ण संदर्भ सूची भी दी गई है। आपको सलाह दी जाती है कि आप इसका इस्तेमाल करें।

1.1 इकाई के उद्देश्य

- राष्ट्रपति की शक्तियों का विश्लेषण करना।
- भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री की स्थिति की चर्चा करना।
- संसदीय प्रक्रियाओं की व्याख्या करना।
- भारतीय प्रशासन में मंत्रीमण्डल की भूमिका को समझना।
- राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया को समझना।
- राष्ट्रपति की शक्तियों व कार्यों को जानना।
- राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति को समझना।

1.2 राष्ट्रपति (President)

1.2.1 परिचय

भारतीय संविधान द्वारा देश में लोकतन्त्रात्मक प्रभुसत्ता सम्पन्न समाजवादी धर्म-निरपेक्ष गणराज्य की स्थापना की गई है। गणराज्य के सिद्धान्त अनुसार संघीय स्तर पर राजनैतिक कार्यपालिका के रूप में राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री के दो महत्वपूर्ण पद हमारे संविधान निर्माताओं ने सृजित किये हैं। भारत में भी इंग्लैण्ड के समान शासन प्रणाली के रूप में संसदीय शासन पद्धति को अपनाया गया है, जिसके अन्तर्गत संवैधानिक कार्यपालिका के रूप में राष्ट्रपति होता है, जिसे राष्ट्र-अध्यक्ष का गौरव प्राप्त है। अम्बेडकर के कथानुसार हमारा राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु शासन नहीं करता। वह राष्ट्र का प्रतीक है। उसका शासन में यह स्थान है कि उसके नाम पर राष्ट्र के निर्णय घोषित किये जाते हैं। इस प्रकार राष्ट्रपति राज्य-शक्ति का प्रतीक अवश्य है, परन्तु वास्तविक शासक नहीं। संविधान की धारा 53 के अनुसार, “भारतीय संघ की कार्यपालिका शक्तियाँ भारत के राष्ट्रपति में निहित होंगी तथा वह इनका प्रयोग संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा।” तथा धारा 74 के अनुसार, “राष्ट्रपति को परामर्श देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् है, जिसका नेतृत्व प्रधानमंत्री करता है और जो सामूहिकरूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है।

1.2.2 उद्देश्य

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति पद का विशेष महत्व है। इसके चार प्रमुख कारण हैं। प्रथम, राष्ट्रपति ऐसे समूह द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं, जिसमें सम्पूर्ण देश के प्रतिनिधित्व का समावेश होता है। इसमें राज्यों के विधानमण्डलों के सदस्यों के अतिरिक्त संसद के दोनों सदनों के सदस्यों को सम्मिलित किया जाता है। द्वितीय, राष्ट्रपति के द्वारा जो शपथ ली जाती है वह संविधान की रक्षा के रूप में होती है। तीसरा, राष्ट्रपति के विरुद्ध संविधान में महाभियोग की व्यवस्था की गई है। चौथा, देश के प्रतिरक्षा बलों के प्रधान के रूप में राष्ट्रपति का महत्व और भी बढ़ जाता है।

1.2.3 राष्ट्रपति पद के लिए योग्यताएँ

- (1) वह भारत का नागरिक हो।
- (2) उसकी आयु 35 वर्ष से कम न हो।
- (3) उसमें वे सभी योग्यताएँ होनी चाहिए जो लोकसभा के सदस्य बनने के लिए आवश्यक हैं।
- (4) वह किसी लाभ पद पर न हो, लेकिन इस नियम में कुछ अपवाद कर दिए गए हैं:-
 - (a) संघीय अथवा राज्य सरकार में मन्त्री होना।
 - (b) राज्य का गर्वनर होना।
 - (c) संघ का उप-राष्ट्रपति होना।
 - (d) संघ का राष्ट्रपति यदि पुनः निर्वाचन में खड़ा हो।
 - (e) संसद या विधानमण्डल का सदस्य चुनाव तो लड़ सकता है, लेकिन चुने जाने के बाद वह संसद या विधानमण्डल का सदस्य नहीं रह सकता। 1 फरवरी 1974 में संसद ने एक कानून पारित करके जिसके द्वारा राष्ट्रपति के लिए चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार को 2500रूपये जमानत के रूप में जा

करवाने आवश्यक थे। इसके अलावा इस कानून के अन्तर्गत राष्ट्रपति का चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार का नाम निर्वाचक मण्डल के 10 सदस्यों द्वारा प्रस्तावित और 10 सदस्यों द्वारा अनुमोदित होना जरूरी था। 5 जून 1997 में राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए अध्यादेश के अनुसार राष्ट्रपति के चुनाव के लिए जमानत की राशि 2500 से बढ़ाकर 15000रूपये कर दी गई। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार का नाम कम से कम 50 सदस्यों द्वारा प्रस्तावित तथा 50 सदस्यों द्वारा अनुमोदित होना आवश्यक कर दिया गया।

- राष्ट्रपति का चुनाव
- कार्यकाल
- वेतन तथा भत्ते
- विशेषाधिकार
- कार्य तथा शक्तियाँ
- महाभियोग
- वास्तविक स्थिति

राष्ट्रपति का कार्यकाल

राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष है। वह पुनः भी चुना जा सकता है। संविधान के अंतर्गत राष्ट्रपति बार-बार निर्वाचित हो सकता है। इसके विपरीत अमेरिका के संविधान में राष्ट्रपति केवल दो बार ही इस पद पर रह सकता है। भारत के राष्ट्रपति का पद केवल तीन कारणों से रिक्त हो सकता है।

- (1) यदि वह स्वयं त्याग पत्र दे दे।
- (2) दुर्भाग्यवश उसका देहान्त हो जाए।
- (3) उसे महाभियोग के द्वारा पद से हटा दिया जाए।

ऐसी स्थिति में उपराष्ट्रपति इस पद को ग्रहण कर लेता है। लेकिन 6 माह में नये राष्ट्रपति का चुनाव आवश्यक है। अगर नये राष्ट्रपति का चुनाव किसी कारणवश न हो सके तो पहले वाला राष्ट्रपति उस समय तक अपने पद पर बना रहेगा, जब तक उसका उत्तराधिकारी पद न संभाल ले। राष्ट्रपति को अपना त्यागपत्र लिखकर उपराष्ट्रपति को भेजना होता है तथा उपराष्ट्रपति को इसकी सूचना तुरन्त लोकसभा के स्पीकर को देनी पड़ती है।

वेतन तथा भत्ते

वर्तमान समय में भारत के राष्ट्रपति को 50000रूपए मासिक वेतन दिया जाता है। इसके अलावा रहने के लिए निवास स्थान तथा कई भत्ते भी मिलते हैं। सेवानिवृत्त होने के बाद उसे 3 लाखरूपये वार्षिक पेंशन भी मिलती है तथा निःशुल्क आवास स्थान, कार, टेलीफोन, बिजली-पानी और सचिवालय की सुविधा भी प्रदान की जाती है। राष्ट्रपति का वेतन तथा सभी भत्ते संचित निधि से प्राप्त होते हैं, जिन्हें उसके कार्यकाल में कम नहीं किया जा सकता। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद तथा डॉ० राधाकृष्णन केवल 2500रूपये मासिक वेतन लेते थे। श्री नीलम संजीवा रेड्डी 3000रूपये मासिक वेतन लेते थे।

विशेषाधिकार

संविधान के अनुच्छेद 361 के अनुसार राष्ट्रपति को अपने अधिकारों तथा शक्तियों के प्रयोग के लिए किसी भी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उसके कार्यकाल में उसको गिरफ्तार अथवा बन्दी नहीं बनाया जा सकता तथा उसके विरुद्ध फौजदारी कार्यवाही भी नहीं की जा सकती।

राष्ट्रपति के निजी कार्यों के लिए भी कोई दिवानी कार्यवाही या मुकदमा उसके विरुद्ध कम से कम दो महीने पहले नोटिस दिए बिना नहीं चलाया जा सकता।

राष्ट्रपति पर महाभियोग

इस विधि का वर्णन संविधान की धारा 161 में किया गया है। इस विधि के अन्तर्गत संसद के दोनों सदनों में से जो सदन आरोप लगाना चाहता है, उसको एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षरों सहित इस प्रस्ताव को राष्ट्रपति के पास 14 दिन पूर्व भेजना पड़ता है। जब सदन में महाभियोग विषय पर चर्चा चल रही होती है, तो राष्ट्रपति ऐसे समय पर स्वयं उपस्थित होकर या किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा आरोपों का जवाब दे सकता है। यदि वह 2/3 बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर दे तो दूसरा सदन उन आरोपों की जाँच करता है। यदि दूसरा सदन भी 2/3 बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर दे तो दूसरा सदन उन आरोपों की जाँच करता है। यदि दूसरा सदन भी 2/3 बहुमत से उन आरोपों को सही मान ले, तो राष्ट्रपति को अपना पद रिक्त करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति का कार्यभार सम्भालता है। यदि उपराष्ट्रपति भी त्यागपत्र दे देता है या उसकी मृत्यु हो जाए तो सर्वोच्च न्यायालय का सर्वोच्च न्यायाधीश कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है। जैसे सन् 1969 में राष्ट्रपति जाकिर हुसैन की मृत्यु पर उपराष्ट्रपति वी०वी० गिरि के त्यागपत्र देने के कारण सर्वोच्च न्यायालय के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री हिदायतुल्ला ने कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य किया। लेकिन 6 महीने के अन्दर नए राष्ट्रपति का निर्वाचन अनिवार्य है। भारत में अभी तक किसी भी राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग प्रस्ताव नहीं लाया गया है। सन् 1970 में उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन के विवाद में राष्ट्रपति वी०वी० गिरि के विरुद्ध विपक्षी नेता मधु लिमये ने महाभियोग प्रस्ताव लाने का प्रयास किया था।

1.2.4 राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया

भारत के राष्ट्रपति के चुनाव के लिए संवैधानिक सभा के सामने कई प्रस्ताव रखे गए। पहला प्रस्ताव था कि चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्षरूप में किया जाए। इस पर विस्तार से विचार किया गया। यह देखने से तो लोकतान्त्रिक था, लेकिन कुछ समस्याएँ थी। जैसे इतने बड़े देश में जनता द्वारा चुनाव करवाना कठिन था। इसके लिए बहुत से कार्यकर्ता और धन की आवश्यकता पड़ती थी, जो भारत सरकार के लिए कठिन था। दूसरी बात, भारत में संसदीय प्रणाली है। इसलिए इसका राज्याध्यक्ष नाममात्र का होता है। जनता द्वारा निर्वाचित होने वाले अध्यक्ष को नाममात्र का अध्यक्ष रखना कुछ अजीब सा लगता है।

अतः वाद-विवाद और विचार-विमर्श के बाद यह निश्चित किया गया कि राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष ढंग से ही होगा। यह चुनाव एक निर्वाचक मण्डल के द्वारा किया जाएगा। जिसमें संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य और राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों को भाग लेने का अधिकार है।

संविधान के दो अनुच्छेदों 54 और 55 में राष्ट्रपति के चुनाव की व्यवस्था की गई है। संक्षिप्तरूप में कहा जा सकता है कि भारत का राष्ट्रपति अप्रत्यक्षरूप में एक चुनाव मण्डल, जिसमें केन्द्रीय संसद तथा प्रान्तीय विधानपालिकाओं के चुने हुए सदस्य हैं। उनके द्वारा एकल संक्रमणीय मत प्रणाली द्वारा अनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर गुप्त मतदान द्वारा चुना जाता है।”

1. मतों का मूल्य: निर्वाचन में भाग लेने वाले सदस्यों की वोटों को निश्चित करने के लिए सूत्र अपनाए गए हैं, वे इस प्रकार हैं:—

$$\text{एम०एल०ए० की वोट की कीमत} = \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}} \div 1000$$

उदाहरण: अगर किसी एक राज्य की जनसंख्या 300,00,000 है तथा उसके विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 300 है तो उस राज्य की विधानसभा के वोट का मूल्य होगा –

$$= \frac{300,00,000}{300} \div 1000 = 100$$

इस राज्य में प्रत्येक एम०एल०ए० के वोट की कीमत 100 होगी तथा राज्य की वोटों की कीमत $300 \times 100 = 30,000$ होगी। इसी प्रकार अन्य राज्यों में विधानसभा के सदस्यों के वोटों का मूल्य निकाल लिया जाता है। संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की वोट की कीमत इस प्रकार होगी –

राज्य विधानसभाओं के सदस्यों के मतों का योग
संसद के दोनों सदनों के चुने हुए सदस्य

उदाहरण: मान लो राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों के मतों की कुल संख्या 549511 तथा संसद के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 776 है तो प्रत्येक संसद सदस्य के वोट की कीमत होगी –

$$\frac{549511}{776} = 708$$

2. एकल संक्रमणीय मत प्रणाली – मतों की कीमत निश्चित करने के बाद चुनाव गुप्त पत्र द्वारा एकल संक्रमणीय मत प्रणाली के आधार पर किया जाता है। इस प्रणाली में निम्न बातें होती हैं –

- (i) प्रत्येक मतदाता को एक वोट देने का अधिकार है, लेकिन उसे उतनी प्राथमिकताएँ देने का अधिकार है, जितने व्यक्ति चुनाव लड़ रहे हैं।
- (ii) चुनाव में जीतने वाले उम्मीदवार को स्पष्ट (बहुमत) कोटा प्राप्त करना होता है। बहुमत (कोटा) निकालने की विधि इस प्रकार है–

$$\frac{\text{डाले गए कुल मतों की संख्या}}{\text{सीटों की संख्या} + 1} + 1$$

उदाहरण: अगर कुल मत 10,000 है तो कोटा होगा।

$$\frac{10000}{1 + 1} + 1 = 5001$$

मतों की गणना

सबसे पहले उम्मीदवारों की पहली पसंद के वोट को गिना जाता है। जो उम्मीदवार पहली बार निश्चित कोटा प्राप्त कर लेता है, उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। यदि कोई उम्मीदवार निश्चित कोटा प्राप्त नहीं करता तो सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को चुनाव से बाहर कर दिया जाता है और उसके वोटों को वोटों की दूसरी पसंद के अनुसार बाकी उम्मीदवारों को बांट दिया जाता है। वह तब तक चलता है जब तक एक उम्मीदवार को निश्चित कोटा नहीं मिल जाता।

अब तक हुए 12 राष्ट्रपति के चुनावों में से केवल एक बार ही वोटों का हस्तान्तर करना पड़ा है। ऐसा सन् 1969 में हुआ था। जब श्री देशमुख की वोटों के वितरण से श्री गिरी को स्पष्ट बहुमत मिला।

मतदान पूरी तरह गुप्त होता है। संसद सदस्य दिल्ली में या अपने राज्यों की राजधानी में वहाँ के विधानसभा के सदस्यों के साथ मतदान कर सकते हैं।

राष्ट्रपति पद के लिए पिछला चुनाव (12वां) जुलाई, 2002 को हुआ। इस चुनाव में इलैक्ट्राल कॉलेज की कुल सदस्य संख्या 4896 थी, और कुल 4785 वोट डाले गए जिनमें से वर्तमान राष्ट्रपति डॉ० अब्दुल कलाम को 4152 वोट मिले, जिनकी प्रतिशत संख्या 89.58 प्रतिशत थी। इस चुनाव में हारने वाले प्रत्याशी (लक्ष्मी सहगल) को 459 (10.42%) वोट मिले। इस चुनाव में इलैक्ट्राल कॉलेज के मतों का कुल मूल्य 1,07,366 था। इस चुनाव में 174 वोट अवैध पाए गए जिसमें 42 वोट संसद से थे।

राष्ट्रपति के चुनाव सम्बन्धी विवाद

मूल संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के चुनाव सम्बन्धी विवादों को सुनने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को दिया गया था। चुनाव में प्रत्याशी रहा कोई भी उम्मीदवार अथवा कम से कम दस निर्वाचकों द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में राष्ट्रपति के चुनाव को चुनौती दी जा सकती है। जिस प्रकार 1974 में राष्ट्रपति चुनाव से पहले गुजरात विधानसभा भंग हो चुकी थी। इस स्थिति में राष्ट्रपति ने 29 अप्रैल, 1974 को अनुच्छेद 143 के तहत सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श मांगा कि गुजरात विधानसभा भंग रहते, क्या राष्ट्रपति का चुनाव हो सकता है? मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में सात सदस्यीय संवैधानिक पीठ में इस प्रश्न पर विचार किया और 5 जून को व्यक्त विचार में कहा कि 'राष्ट्रपति के चुनाव वर्तमान राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व होने चाहिए और एक राज्य की विधानसभा भंग होते हुए भी ये चुनाव हो सकते हैं।' परन्तु सन् 1975 में पास हुए संविधान के 39वें संशोधन द्वारा इस स्थिति में परिवर्तन किया गया कि राष्ट्रपति के चुनाव सम्बन्धी विवादों का फैसला सर्वोच्च न्यायालय की बजाय संसद कानून द्वारा किसी संस्था अथवा समिति की स्थापना करके करेगी। इसमें यह भी व्यवस्था की गई कि इस संस्था द्वारा दिया गया निर्णय अन्तिम होगा और उसे किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी। परन्तु 43वें संविधान संशोधन द्वारा फिर इस बारे में परिवर्तन किया गया कि राष्ट्रपति के चुनाव सम्बन्धी संदेहों तथा विवादों की जाँच और निर्णय सर्वोच्च न्यायालय करेगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा। इसी आधार पर डॉ० जाकिर हुसैन तथा वी०वी० गिरि के चुनावों को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई थी। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने उनके चुनावों को वैध घोषित हुए याचिकाओं को रद्द कर दिया था।

राष्ट्रपति की चुनाव प्रणाली के दोष

- (i) राष्ट्रपति के चुनाव की विधि अप्रजातान्त्रिक है, क्योंकि इसमें राष्ट्रपति का चुनाव प्रत्यक्ष तौर पर जनता द्वारा नहीं होता।
- (ii) आम (साधारण) व्यक्ति के लिए यह चुनाव प्रणाली उसकी समझ से बाहर है। उचित यह होता कि इसको अधिक सरल व सहज रखा जाता।
- (iii) राष्ट्रपति का चुनाव—प्रणाली के लिए 'अनुपातिक प्रतिनिधित्व' तथा 'एकल संक्रमणीय मत' शब्दावली का प्रयोग किया गया है, जो गलत है। यह प्रणाली वहाँ अपनाई जाती है जहाँ बहल सदस्य निर्वाचित करने हों। संविधान सभा में सर्वश्री महावीर त्यागी, नजीरुद्दीन तथा बेगम अजीज रसूल ने इस चुनाव प्रणाली को अनुपातिक प्रतिनिधित्व का नाम देने पर भी आपत्ति जताई थी। एम०पी० शर्मा के अनुसार इस चुनाव प्रणाली का नाम वैकल्पिक या वरीयता प्रणाली होना चाहिए।

- (iv) इस प्रणाली का यह दोष भी है कि यदि उम्मीदवार दो से अधिक हों और मतदाता केवल एक ही पसन्द का प्रयोग करे। इस प्रकार यदि किसी को पहली पसंद में बहुमत ना मिले तो चुनाव किस प्रकार होगा? उचित तो यह होता कि राष्ट्रपति पद के लिए तीन या इससे अधिक उम्मीदवार हों और संविधान निर्माता कम-से-कम तीन पसन्दों को देना अनिवार्य कर देते।

राष्ट्रपति द्वारा शपथ ग्रहण करना

अपना पद ग्रहण करने से पहले भारत के राष्ट्रपति को सर्वोच्च न्यायाधीश के समक्ष शपथ लेनी पड़ती है, जिसका उल्लेख संविधान की धारा 60 में इस प्रकार किया गया है:—

“मैं ईश्वर की शपथ लेता हूँ। सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का कार्य पालन करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण तथा प्रतिरक्षण करूँगा और मैं भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।”

1.2.5 राष्ट्रपति की शक्तियाँ एवं कार्य

विधिशालित्रीयों के अनुसार भारतीय राष्ट्रपति सर्वशक्तिमान है जबकि राजनीति शास्त्रियों का कहना है कि केवल वह संवैधानिक अध्यक्ष हैं जो शक्ति की बजाय प्रभाव का प्रयोग करता है। संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार, “संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी, जिसका प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा करेगा।” संविधान के प्रावधानों के अनुसार भारत के राष्ट्रपति को दो प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हैं:—

- (1) साधारण परिस्थितियों में प्रयुक्त शान्तिकालीन शक्तियाँ, एवं
- (2) असाधारण परिस्थितियों में प्रयुक्त आपातकालीन शक्तियाँ।

साधारण परिस्थितियों की शक्तियों को निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है:—

विधायी शक्तियाँ: भारत का राष्ट्रपति किसी भी सदन का सदस्य होते हुए भी इसका अभिन्न अंग है। राष्ट्रपति की विधायी शक्तियाँ निम्नलिखित हैं:—

- (i) संसद का अधिवेशन बुलाना तथा सत्रावसान करना: संविधान के अनुच्छेद 58(1), (2) के अन्तर्गत राष्ट्रपति संसद का अधिवेशन बुलाता है तथा समाप्त करता है। राष्ट्रपति संसद के अधिवेशनों का सत्रावसान कर सकता है किन्तु दो सत्रों के मध्य छः माह से अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए।
- (ii) संसद में अधिवेशनों का उद्घाटन और संशोधन: लोकसभा चुनावों के बाद गठित सरकार तथा प्रतिवर्ष बजट सत्र के दौरान राष्ट्रपति संसद में अभिभाषण देता है, जो सम्बन्धित सरकार की नीतियों का दर्पण होता है।
- (iii) संयुक्त अधिवेशन बुलाना: यदि सदन के दोनों सदन किसी विषय पर असहमति प्रकट करें तो राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता है।
- (iv) राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन को संदेश भेज सकता है।
- (v) राष्ट्रपति, लोकसभा में दो एंग्लोइन्डियन व्यक्तियों को मनोनीत कर सकता है यदि उन्हें आम चुनाव के दौरान संसद में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला हो। इसी प्रकार राज्यसभा में भी राष्ट्रपति 12 ऐसे व्यक्तियों को मनोनीत कर सकता है जो साहित्य, कला, विज्ञान, सामाजिक जीवन या शिक्षा आदि क्षेत्रों में विशेष ज्ञान का अनुभव रखते हों।
- (vi) आपातकाल में राष्ट्रपति लोकसभा की अवधि एक वर्ष बढ़ा सकता है।

- (vii) अध्यादेश जारी करने की शक्ति: अनुच्छेद 123 के अनुसार जब संसद के दोनों सदनों की बैठक न हो रही हो तथा किसी विषय पर तत्काल निर्णय लेना हो तो राष्ट्रपति अध्यादेश जारी की सकता है जो संसद की अगली बैठक के छः सप्ताह के दौरान अनुमोदित अथवा इसके पश्चात् निरस्त हो जाएगा। ये अध्यादेश मूल अधिकारों के हनन से सम्बन्धित नहीं हो सकते हैं। राष्ट्रपति के व्यक्तिक समाधान पर आधारित इन अध्यादेशों को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है। अगर संसद इसे स्वीकृति दे देती है तो यह अध्यादेश कानून बन जाता है। जैसे अटल बिहारी सरकार में राष्ट्रपति द्वारा आतंकवाद के खिलाफ आतंकवादी निरोधक अध्यादेश (POTO) जारी किया था जो बाद में कानून में बदल गया (POTA)। आलोचकों के अनुसार सत्तारूढ़ दल राष्ट्रपति की इस शक्ति का दुरुपयोग करते हैं; जैसे बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बारे में जो अध्यादेश जारी किया गया था वह संसद के अधिवेशन के शुरू होने से 2-3 दिन पूर्व किया गया था, जो न्याय संगत नहीं था। ए०बी० लाल के अनुसार, “किसी भी देश में जहाँ लिखित संविधान तथा संसदीय प्रणाली की सरकार हो, राज्याध्यक्ष को ऐसी वैधानिक शक्ति प्राप्त नहीं है।”
- (viii) लोकसभा को भंग करने की शक्ति: भारत का राष्ट्रपति जब चाहे संसद के निचले सदन को भंग कर सकता है, लेकिन वास्तव में वह इस शक्ति का प्रयोग प्रधानमंत्री की सलाह से ही करता है। उदाहरण के लिए सन् 1970 में राष्ट्रपति श्री वी०वी० गिरि ने श्रीमती इन्दिरा गांधी की सलाह पर लोकसभा को भंग किया था। 18 जनवरी, 1970 को राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद ने श्रीमती इन्दिरा गाँधी की सलाह पर 22 अगस्त 1979 को राष्ट्रपति श्री संजीवा रेड्डी ने चौ० चरण सिंह की सलाह पर लोकसभा को भंग किया था। सन् 1966 के लोकसभा चुनाव में किसी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने के कारण सबसे पहले राष्ट्रपति ने भाजपा के शीर्ष नेता अटल बिहारी वाजपेयी को प्रधानमंत्री नियुक्त किया, परन्तु लोकसभा में बहुमत सिद्ध न करने पर और त्याग-पत्र देने पर श्री एच०डी० देवेगौड़ा को प्रधानमंत्री नियुक्त किया परन्तु कुछ समय पश्चात् संयुक्त मोर्चा में फूट के कारण श्री इन्द्रकुमार गुजराल को नेता चुना गया। संयुक्त मोर्चा से कांग्रेस द्वारा समर्थन वापिस ले लिए जाने के कारण सरकार गिर गई और राष्ट्रपति ने लोकसभा भंग कर दी।
- (ix) संसद द्वारा पास किए गए बिलों पर स्वीकृति: संसद में बिलों के पास होने के बाद राष्ट्रपति की स्वीकृति लेना आवश्यक है। यदि वह किसी बिल को स्वीकृति न दे, तो वह उस (धन-विधेयक के अतिरिक्त) बिल को पुनः विचार के लिए संसद के पास वापिस भेज सकता है। यदि वह विधेयक संसद के दोनों सदनों में पास होकर पुनः राष्ट्रपति के पास चला जाए तो राष्ट्रपति को उस पर अपनी स्वीकृति देनी पड़ती है। जैसे राष्ट्रपति आर०के० नारायणन ने अक्टूबर 1997 तथा सितम्बर 1998 में दो बार उत्तर प्रदेश तथा बिहार के खिलाफ राष्ट्रपति शासन लागू करने के विधेयकों को पुनर्विचार के लिए मन्त्रिमण्डल के पास भेजा था। इसी प्रकार अगस्त 2002 में राष्ट्रपति ए०पी०जे० अब्दुल कलाम द्वारा जन प्रतिनिधित्व (संशोधन) बिल, 2002 को पुनर्विचार के लिए भेजा, परन्तु मन्त्रिमण्डल ने बिना किसी फेरबदल के उसी बिल को वापिस राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया और राष्ट्रपति को उस पर स्वीकृति देनी पड़ी।
- (x) धन विधेयक, नये राज्यों के निर्माण (जैसे छत्तीसगढ़, उत्तरांचल तथा झारखण्ड) तथा वर्तमान राज्यों की सीमा में परिवर्तन, राज्यों के वित्तीय संसाधनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इत्यादि को प्रभावित करने वाले विषयों से सम्बन्धित विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बाद ही सदन में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।
- (xi) राज्य विधानमण्डलों द्वारा राष्ट्रपति को भेजे गए विधेयकों को राष्ट्रपति पुनर्विचार हेतु लौटा सकता है तथा दोबारा आने पर तार्किक आधार पर अपनी स्वीकृति पूर्णतः रोक (वीटो) भी सकता है जो संसद के विधेयकों के सम्बन्ध में अंशतः ही लागू होती है।

कार्यपालिका शक्तियाँ: भारतीय संघ की समस्त कार्य-पालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है। संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार संघ की कार्यकारी शक्ति राष्ट्रपति में निहित है और वह इसका प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करता है। सारे देश का शासन राष्ट्रपति के नाम पर ही चलाया जाता है। इसकी कार्यपालिका शक्तियाँ निम्नलिखित हैं-

- (i) प्रधानमंत्री की नियुक्ति तथा प्रधानमंत्री के परामर्श पर मन्त्रिपरिषद् में अन्य मन्त्रियों की नियुक्तियाँ करना;
- (ii) प्रधानमंत्री तथा मन्त्रिपरिषद् को पद से हटाना;
- (iii) राष्ट्रीय नीतियों तथा कार्यक्रमों में सहमति प्रकट करना तथा प्रधानमंत्री से सूचना माँगना;
- (iv) देश के संचालन तथा मार्गदर्शन में सहयोग करना;
- (v) सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करना;
- (vi) भारत के महान्यायिद (अटार्नी जनरल) की नियुक्ति, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक की नियुक्ति, राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति, केन्द्र शासित प्रदेशों में आयुक्तों की नियुक्ति, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति, निर्वाचन आयोग मुख्य चुनाव आयुक्त तथा चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति, राजदूतों तथा अन्य मिशनों में नियुक्ति, अन्तर्राज्यीय परिषद्, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद्, वित्त आयोग, भाषा आयोग, केन्द्रीय सतर्कता आयोग इत्यादि में नियुक्तियाँ करना राष्ट्रपति के क्षेत्राधिकार में है।
- (vii) राष्ट्रपति अनेक पुरस्कारों, अलंकारों तथा सम्मान पत्रों इत्यादि का वितरण करता है।

वस्तुतः राष्ट्रपति अपनी सभी शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री तथा मन्त्रिपरिषद् के परामर्श पर करता है अर्थात् वास्तविकरूप से ये शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित न होकर मन्त्रिपरिषद् में निहित है।

सैनिक शक्तियाँ: तीनों भारतीय सेनाओं की सर्वोच्च कमान राष्ट्रपति के हाथ में है, परन्तु वह इस शक्ति को विधि के अनुसार ही प्रयोग कर सकता है। वस्तुतः युद्ध और शान्ति के समय कानून बनाने का अधिकार पूर्णरूप से संसद को प्राप्त है और बिना संसद की स्वीकृति के, वह न तो युद्ध की घोषणा कर सकता है और न ही सेनाओं को युद्ध लड़ने के लिए भेज सकता है।

न्यायिक शक्तियाँ: संविधान के अनुच्छेद 72 के अनुसार राष्ट्रपति को क्षमादान का अधिकार दिया गया है। वह दण्ड को पूर्णरूप से क्षमा कर सकता है, स्थगित कर सकता है अथवा दण्ड में परिवर्तन कर सकता है। इस अधिकार का प्रयोग केवल तीन प्रकार के दण्डों पर कर सकते हैं - (i) यदि दण्ड किसी सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया हो; (ii) यदि दण्ड ऐसे मामलों में दिया गया हो जो केन्द्रीय कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आते हों; और (iii)

यदि अपराधी को मृत्यु दण्ड दिया गया हो। व्यवहार में राष्ट्रपति इन अधिकारों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के परामर्श से ही करेगा।

वित्तीय शक्तियाँ: राष्ट्रपति के नाम से ही प्रतिवर्ष बजट वित्तमन्त्री द्वारा संसद में पेश किया जाता है। उनकी अनुमति बिना कोई धन विधेयक लोकसभा में पेश नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति प्रतिवर्ष लेखा परीक्षक रिपोर्ट, वित्त आयोग की सिफारिशें आदि संसद के सम्मुख प्रस्तुत करवाता है। राष्ट्रीय संसद से पूरक, अतिरिक्त तथा अपवादभूत अनुदानों की माँग भी कर सकता है। भारत की आकस्मिक विधि पर उसका पूर्ण नियन्त्रण रहता है। वह सरकार की इस निधि में से संसद की अनुमति के बिना ही अचानक आ पड़ने वाले खर्च को दे सकता है।

आपातकालीन शक्तियाँ: जर्मनी के बाईमर संविधान की भाँति भारत के संविधान द्वारा भी राष्ट्रपति को आपातकालीन शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। हमारे संविधान के 18वें भाग में इन शक्तियों का उल्लेख किया गया है। आपातकालीन समस्या के समाधान के लिए शक्तियों का कुछ केन्द्रीकरण आवश्यक हो जाता है। जिससे यह भी सम्भव है कि

कार्य—पालिका निरंकुशरूप धारण करने का प्रयत्न कर सकती है। संविधान में इस संदर्भ में प्रायः कुछ 'विशेष रक्षक प्रावधान' समावेशित किए हैं जो कार्य पालिका की निरंकुश बनने की प्रवृत्ति पर अवरोध लगाते हैं। 49वें संविधान संशोधन के तहत आपातकालीन प्रावधानों को सुरक्षा कवच पहनाया गया है और अब आपातकालीन शक्तियों के प्रावधान इस प्रकार हैं —

(1) युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से उत्पन्न संकट: मूल संविधान के अनुच्छेद 352 में व्यवस्था है कि यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाये कि युद्ध, बाह्य आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति के कारण भारत या उसके किसी भाग की शान्ति व्यवस्था के नष्ट होने की आशंका है या यथार्थरूप में इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होने पर राष्ट्रपति संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर सकता था। संसद की स्वीकृति के बिना भी यह दो माह तक लागू रहती थी और संसद से स्वीकृत हो जाने पर शासन जब तक उसे लागू रखता चाहता तो लागू रख सकता था। अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत चार बार आपातकाल की घोषणा की गई है — 1962, 1965, 1971 (बाह्य आक्रमण) तथा 1975 (आन्तरिक अव्यवस्था के कारण)। संकटकाल के दौरान शक्तियों का दुरुपयोग किया गया, विशेषकर 1975 में। अतः इन आपातकालीन शक्तियों का दुरुपयोग न किया जाए इसलिए 44वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों पर काफी प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं, जो इस प्रकार हैं —

- (i) अनुच्छेद 352 में "आन्तरिक अशान्ति" के स्थान पर "सशस्त्र विद्रोह" शब्दावली का प्रयोग किया गया है, जिससे राष्ट्रपति आन्तरिक अशान्ति की स्थिति में आपात—उद्घोषणा कर सकेगा, जब देश के किसी भाग में "सशस्त्र विद्रोह" प्रारम्भ हो गया हो।
- (ii) राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा तभी की जा सकेगी, जब केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल लिखितरूप से राष्ट्रपति को ऐसा परामर्श दे।
- (iii) राष्ट्रपति द्वारा घोषणा किए जाने के एक माह के अन्दर संसद के विशेष बहुमत (पृथक—पृथक संसद के दोनों सदनों के कुल बहुमत एवं उपस्थिति और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत) से इसकी स्वीकृति आवश्यक है तथा लागू रखने के लिए प्रति छः माह बाद संसद की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है।
- (iv) संसद के साधारण बहुमत द्वारा संकटकाल की घोषणा समाप्त की जा सकती है।

यहाँ यह उल्लेख करना जरूरी है कि 44वें संविधान संशोधन द्वारा भारतीय संविधान में किए गए 38वें संवैधानिक संशोधन को भी रद्द कर दिया गया है, जिसमें यह प्रावधान था कि राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत की गई संकटकालीन घोषणा को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी। इस प्रकार अब राष्ट्रपति द्वारा लागू की गई आपातकालीन घोषणा को न्याय योग्य बना दिया गया है। अब इस प्रकार की घोषणा को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।

आपात उद्घोषणा के प्रभाव: संक्षेप में आपात उद्घोषणा के संवैधानिक प्रभाव निम्नलिखित हैं—

- (i) संसद को सम्पूर्ण देश अथवा उसके किसी क्षेत्र के लिए सभी विषयों अथवा राज्य सूची में दिए गए विषयों पर भी कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जायेगी। राज्य—सूची के सम्बन्ध में संघ द्वारा निर्मित ये कानून उद्घोषणा की समाप्ति के छह माह बाद प्रभावी नहीं रहेंगे।
- (ii) संघ की कार्यपालिका को राज्यों की कार्यपालिकाओं को यह निर्देश देने का अधिकार हो जाता है कि किस प्रकार शक्ति का प्रयोग करें।

- (iii) राष्ट्रपति यह आदेश दे सकता है कि संघ और राज्यों के बीच आय-वितरण सम्बन्धी सभी या कोई भी उपबन्ध चालू वित्तीय वर्ष में उनके निर्देशानुसार संशोधित होते रहेंगे, परन्तु ऐसा आदेश यथाशीघ्र संसद के दोनों सदनों के सामने रखा जाएगा।
- (iv) आपातकालीन घोषणा के लागू रहने के समय में 19वें अनुच्छेद द्वारा नागरिकों को प्राप्त स्वतन्त्रताएँ स्थगित हो जाएगी और राज्य के द्वारा इन स्वतन्त्रताओं को स्थगित करने वाले कानूनों का निर्माण किया जा सकेगा। 44वें संविधान संशोधन में प्रावधान किया गया है कि यदि आपात-स्थिति सशस्त्र विद्रोह के कारण लागू की गयी है, तो अनुच्छेद 19 की व्यवस्थाओं को स्थगित नहीं किया जा सकता। आपात-स्थिति की समाप्ति के बाद ऐसे कानून तत्काल समाप्त हो जाएँगे।
- (v) मूल संविधान में व्यवस्था थी कि राष्ट्रपति के आदेश द्वारा अनुच्छेद 32 में वर्णित संवैधानिक उपचारों (न्यायालय की शरण) के अधिकारों को भी स्थगित कर सकता है। 44वें संशोधन के आधार पर यह व्यवस्था की गई कि आपातकाल में भी जीवन और शारीरिक स्वाधीनता के अधिकार को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकेगा। लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य अधिकारों के लिए नागरिक न्यायालय की शरण ले सकेंगे।

(2) राज्यों में संवैधानिक तन्त्र असफल होने से उत्पन्न संकट:

संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार अगर राष्ट्रपति को राज्यपाल के प्रतिवेदन पर या किसी अन्य प्रकार से यह विश्वास हो जाए कि ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं कि किसी राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है व संकटकाल की घोषणाकर सकता है।

ऐसा आपातकाल घोषित करने की विधि नहीं है जो प्रथम प्रकार के संकट के लिए है। मूल संविधान में संकट की समयावधि छह माह थी। 42वें संविधान द्वारा इस अवधि को एक वर्ष कर दिया गया था, परन्तु 44वें संशोधन द्वारा इस अवधि को पुनः छह माह कर दिया गया है। 44वें संशोधन के पूर्व राज्य में राष्ट्रपति शासन की अधिकतम अवधि तीन वर्ष थी, लेकिन अब इस व्यवस्था में परिवर्तन किया गया है कि राज्य में राष्ट्रपति शासन के एक वर्ष की अवधि के बाद इसे और अधिक समय के लिए जारी रखने का प्रस्ताव संसद तभी पारित कर सकेगी, जबकि इस प्रकार का प्रस्ताव पारित किए जाने के समय अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत संकटकाल लागू हो और चुनाव आयोग यह प्रमाणित कर दे कि राज्य में चुनाव कराना सम्भव नहीं है।

घोषणा के संवैधानिक प्रभाव: इस प्रकार की घोषणा के परिणाम निम्नलिखित होंगे—

- (i) राष्ट्रपति किसी भी राज्य अधिकारी का कोई भी कार्यपालिका सम्बन्धित कार्य स्वयं ग्रहण कर सकता है।
- (ii) राष्ट्रपति राज्य के विधान मण्डल की शक्तियाँ संसद को हस्तान्तरित कर सकेगा और संसद को यह अधिकार होगा कि वह उन विधायी शक्तियों को राष्ट्रपति को सौंप दे अथवा राष्ट्रपति को यह अधिकार दे कि वह उन्हें किसी अन्य अधिकारी को सौंप दे।
- (iii) यदि लोकसभा का सत्र नहीं चल रहा हो, तो राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि में से आवश्यक खर्च की स्वीकृति दे सकता है।
- (iv) राष्ट्रपति उद्घोषणा की पूर्ति के लिए उच्च न्यायालय की शक्ति को छोड़कर अन्य समस्त शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकता है।

संविधान के इन उपबन्धों का अब तक लगभग 115 से भी अधिक बार प्रयोग किया जा चुका है। पहली बार 1951 में पंजाब में भार्गव मंत्रिमण्डल के पतन के कारण ऐसी उद्घोषणा की गई थी। उसके बाद 1952 में पेप्सू राज्य में, 1954 में आंध्रप्रदेश में, 1956 में द्रावनकोर कोचीन, 1959 में केरल, 1961 में उड़ीसा, 1966 में पंजाब, 1967 में राजस्थान और इसके बाद पश्चिमी बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, कर्नाटक और गुजरात में संकटकालीन घोषणा लागू की गई, 1973 में उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश, 1974 में पांडिचेरी, 1975 में नागालैण्ड, 1976 में तमिलनाडु और गुजरात, 1977 में जम्मू कश्मीर, मिजोरम तथा 9 राज्यों की विधानसभा भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। इस स्थिति की पुनरावृत्ति तब हुई जब 1980 में केन्द्र सरकार द्वारा 9 राज्यों की विधानसभाएँ भंग कर इन राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

पंजाब राज्य में कानून-व्यवस्था के सम्बन्ध में असन्तोषजनक स्थिति के कारण अक्टूबर 1983 में वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, मार्च 1981 तथा पुनः अगस्त 1984 में संविधान में संशोधन कर पंजाब में राष्ट्रपति शासन की अवधि बढ़ाई गई और दिसम्बर 1985 तक पंजाब में राष्ट्रपति शासन लागू रहा। पंजाब में राष्ट्रपति शासन की अवधि बार-बार बढ़ाई गई और 11 मई, 1987 से चला आ रहा राष्ट्रपति शासन 25 फरवरी 1992 को हटाया गया। 1989 में नागालैण्ड और कर्नाटक, 1990 में असम में, 1991 में तमिलनाडु, 1992 में नागालैण्ड, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश तथा राजस्थान में आपत्तिपूर्ण राष्ट्रपति शासन लगाया गया क्योंकि वहाँ पर भाजपा सरकार कायम थी और वहाँ की विधानसभा को बहुमत प्राप्त था और संवैधानिक तन्त्र असफल नहीं हुआ था। अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में 18 अक्टूबर 1995, 1996 को राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। इसके बाद 1996 में ही गुजरात, 1997 में फिर उत्तर प्रदेश विधानसभा में विश्वास मत प्राप्त करने के बावजूद राज्यपाल रोमेश भण्डारी की रिपोर्ट पर केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने अनुच्छेद 356 के तहत विधानसभा भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की, परन्तु राष्ट्रपति के.आर. नारायणन ने इसे पुनर्विचार के लिए मन्त्रिमण्डल के पास भेज दिया। इसी प्रकार 1998 में राष्ट्रपति के.आर. नारायणन ने बिहार में राष्ट्रपति शासन लगाने से इन्कार कर दिया। फरवरी 1999 में देश के दो राज्य गोवा व बिहार राष्ट्रपति शासन के अधीन आ गए। सरकारिया आयोग ने इस मुद्दे पर विचार करते हुए पाया कि मन्त्रिमण्डल को विधानसभा में बहुमत प्राप्त होने के बावजूद 13 मामलों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, ऐसे 15 मामलों में, जिनमें मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया था और 26 मामलों में ही राष्ट्रपति शासन लागू करने को अपरिहार्य माना है।

श्री महेश्वरी के शब्दों में, “अनुच्छेद 356 देश की राजनीतिक और प्रशासनिक प्रक्रिया का एक अन्तरंग भाग, सम्भवतया इसका मानस बन गया। “अनुच्छेद के इतने अधिक प्रयोग को उचित नहीं कहा जा सकता।

(3) आर्थिक आपातकाल:

धारा 360 के अन्तर्गत यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाए कि भारत या उसके किसी राज्य के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व संकट में हैं, तो वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता है। यदि वह घोषणा संसद 2 माह के अन्दर नहीं करती तो यह अपने आप समाप्त हो जाती है। ऐसा उपातकाल भारत में अभी तक नहीं आया है।

ऐसी घोषणा के प्रभाव:

- (i) वित्तीय संकट की अवस्था में राष्ट्रपति राज्यों को ऐसे निर्देश दे सकता है जो उसकी दृष्टि में वित्तीय साख बनाये रखने के लिए आवश्यक हों।
- (ii) ऐसे समय में सरकारी कर्मचारियों के वेतन कम कर सकता है।
- (iii) वह आदेश दे सकता है कि प्रत्येक धन बिल उसकी स्वीकृति के लिए भेजा जाए।

- (iv) यह संघ और राज्यों के बीच राजस्व के बटवारे के विषय में आवश्यक बदलाव कर सकता है।
- (v) वित्तीय साख को बचाने के लिए कोई भी कदम उठा सकता है। हमारे देश में इसकी संकट घोषणा नहीं की गई है

संकटकालीन शक्तियों की आलोचना:

1. मौलिक अधिकार अर्थहीन हो जाएंगे इन शक्तियों के आधार पर वह 6 मौलिक स्वतन्त्रताओं को निलंबित कर सकता है।
2. संकट काल में राष्ट्रपति राज्यों के आर्थिक मामलों में दखल दे सकता है। जिससे राज्यों की वित्तीय स्वतन्त्रताओं को बड़ा आघात पहुँचता है।
3. इससे राज्यों में विरोधी दलों की सरकारों का दमन किया जा सकता है। क्योंकि सत्ताधारी दल अन्य दलों पर भारी पड़ने का प्रयास कर सकता है।
4. संकट काल में न्यायपालिका के अधिकारों को सीमित किया जाना ठीक नहीं संविधान की धारा 352 तथा 356के अधीन राष्ट्रपति द्वारा की गई आपतकालीन घोषणाओं के औचित्यों को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती लेकिन अब 44 वें संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति की घोषणा को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।
5. संकटकालीन स्थिति का फैसला करने का अधिकार राष्ट्रपति का है। लेकिन वह न तो जनता का प्रतिनिधित्व करता है और न ही अपनी शक्तियों के प्रयोग के लिए किसी के प्रति उत्तरदायी है। वह एक अनुत्तरदायी मुखिया की भूमिका वहन करता है।
6. संघीय ढांचा संकटकाल में एकात्मक सरकार में बदल जाता है। जिससे राज्यों की सरकार समाप्त हो जाती है।
7. वित्तीय संकटकाल में राष्ट्रपति न्यायाधीशों के वेतन कम कर उनकी स्वतन्त्रता को हानि पहुँचा सकता है।

आपातकालीन शक्तियों का औचित्य:

1. हमारा इतिहास इस बात का गवाह है कि केन्द्र सरकार कमजोर होने पर हमें हानि उठानी पड़ी है। जिसके कारण केन्द्र सरकार का शक्तिशाली होना आवश्यक हो जाता है।
2. देश की रक्षा और सुरक्षा का उत्तरदायित्व केन्द्र सरकार का ही होता है। इसलिए संघीयरूप इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितनी राष्ट्रीय सुरक्षा।
3. महाभियोग ऐसा शस्त्र है जिससे राष्ट्रपति को तानाशाह बनने से रोका जा सकता है।
4. राष्ट्रपति संवैधानिक मुखिया है। उसे सारे कार्य प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल की सलाह पर ही करने होते हैं। जिससे वह स्वविवेक का प्रयोग करके देश का शासन संभाल नहीं सकता।
5. संकट काल की घोषणा तभी की जा सकती है जब संसद के दोनों सदन इसकी स्वीकृति दे देते हैं। यदि वह स्वकृति प्रदान न करे तो संकटकाल की घोषणा उसी समय समाप्त हो जाती है जैसे बिहार में श्री अटल बिहारी सरकार के काल में लगाई गई आपातकाल घोषणा राज्यसभा में स्वीकृति न मिलने के कारण रद्द हो गई थी। 44 वें संशोधन के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि लोकसभा एक प्रस्ताव पास करके किसी भी समय आपातकालीन घोषणा को समाप्त कर सकती है।

6. मौलिक अधिकारों का स्थगन अवैध नहीं है। क्योंकि मौलिक अधिकार तभी सुरक्षित होते हैं जब देश सुरक्षित होता है। इसलिए उनसे अधिक आवश्यक राष्ट्रीय सुरक्षा है।
7. वित्तीय संकटकाल का प्रवधान करना आवश्यक तथा उचित है क्योंकि वित्त के बिना शासन नहीं चलाया जा सकता है। यदि वित्त व्यवस्था ही सही नहीं हो तो शासन मृतक होता है। इसलिए संविधान निर्माताओं ने दूरदर्शिता का परिचय दिया।

1.2.6 राष्ट्रपति की वास्वविक स्थिति

राष्ट्रपति की विभिन्न शक्तियों से यह प्रतीक होता है कि वह देश का वास्वविक तथा संवैधानिक मुखिया है परन्तु उसकी वास्वविक स्थिति को देखा जाए तो ऐसा नहीं है। इसलिए भारतीय राष्ट्रपति की वास्वविक स्थिति का निर्धारण एक अत्यधिक विवादग्रस्त प्रश्न है। संविधान के अनुच्छेद 53 के द्वारा राष्ट्रपति को जो शक्तियां दी गई हैं व्यवहार में वह स्वयं के विवेक के आधार पर इन शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। इसी प्रकार अनुच्छेद 74(1) में निहित शक्तियों के अनुसार राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं होगा और वह चाहे तो वास्वविक शासक बन सकता है। डी० एन० बनर्जी के अनुसार, “क्या राष्ट्रपति को अनुच्छेद 74(1) के उपबन्ध मानने के लिए बाध्य किया जा सकता है? क्या राष्ट्रपति हर स्थिति में अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा मानने को बाध्य है? मैं तो कहता हूँ कि ऐसी नहीं है। “प्रारूप समिति के वैधानिक सलाहाकर श्री बी० एन० राव लिखते हैं कि “संविधान राष्ट्रपति का कोई ऐसा वैधानिक उत्तरदायित्व निश्चित नहीं करता है कि वह मन्त्रियों की मन्त्रणा के आधार पर कार्य करेगा। क्या वह और किसी सीमा तक ऐसा करने के लिए बाध्य होगा, परम्परा का विषय है।” संविधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद का भी यही मत था कि “अनुच्छेद 74(1) यह नहीं कहता कि राष्ट्रपति को मन्त्रियों की मन्त्रणा माननी ही होगी।”

18 सितम्बर, 1951 को प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने एक नोट भेजा कि किसी भी बिल की स्वीकृति के समय, संसद को संदेश भजते समय तथा बिलों को पुनर्विचार के लिए भेजते समय वह अपने विवेक से कार्य करेगा न कि मंत्रिपरिषद् की सलाह पर। इसके बाद प्रधानमंत्री जवाहर लजाल नेहरू ने राष्ट्रपति के विचारों को मद्रास में ए० के० अय्यर तथा अटार्नी जनरल एम० सी० सटालवद के पास उनकी सलाह के लिए भेजा, तो दोनों ने राष्ट्रपति के विचारों के खिलाफ राय दी और कहा कि इससे पूरे संविधान का ढाँचा हिल जाएगा और राष्ट्रपति एक तानाशाह बन सकता है।

डा० राजेन्द्र प्रसाद ने 28 नवम्बर, 1960 को ‘भारतीय विधि संस्थान में भाषण के दौरान इस आवश्यकता पर बल दिया कि “वैज्ञानिक पद्धति से इस सन्दर्भ में अध्ययन और परीक्षण होना चाहिए, जिससे राष्ट्रपति के कार्यों एवं शक्तियों की सीमाओं का आभास हो सके।”

डा० जे० आर० सिवाच ने अपने शोध ग्रंथों में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि “भारत में राष्ट्रपति की स्थिति वैसी नहीं है जैसी ब्रिटेन में सांसद की है। कुछ मामलों में राष्ट्रपति के द्वारा मंत्रिपरिषद् के परामर्श की अवहेलना करते हुए भी अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग किया जाना चाहिए, यदि वह अपनी शपथ के प्रति निष्ठा रखता है।”

सन् 1967 में राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार सुब्बाराव तथा समर्थकों के द्वारा ‘स्वतन्त्र राष्ट्रपति धारणा के बारे में कहा था कि “राष्ट्रपति केवल एक संवैधानिक प्रधान नहीं है और उस पर संविधान की व्यवस्थाओं को क्रियान्वित करने का विशेष भार है।”

अतः इस पक्ष के समर्थकों के अनुसार यदि राष्ट्रपति को संवैधानिक प्रधान ही बनाना था, तो उसको कुछ ऐसी शक्तियों क्यों दी गई जो अध्यक्षतात्मक प्रणाली में पाई जाती है। उसके अनुसार भारतीय राष्ट्रपति सभी परिस्थितियों में मंत्रिपरिषद् की मन्त्रणाओं मानने के लिए बाध्य नहीं होगा।

भारतीय राष्ट्रपतियों की भूमिका के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन:

1950 से 2003 तक भारतीय प्रशासन में राष्ट्रपति की भूमिका का तुलनात्मक अध्ययन करना एक महत्वपूर्ण पहलू है और यह अध्ययन राष्ट्रपति के व्यक्तित्व, तत्कालीन परिस्थिति तथा प्रशासन में उनकी स्थिति पर निर्भर करता है।

सर्वप्रथम डा० राजेन्द्र प्रसाद तथा प० जवाहर लाल नेहरू के बीच हिन्दू कोड बिल के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हुए। तिब्बत को चीन के अंग करेप में स्वीकार करने के शासन के दृष्टिकोण से भी डा० प्रसाद सहमत नहीं थे। केरल के साम्यवादी शासन के विरुद्ध कांग्रेसी आन्दोलन (1959) को राष्ट्रपति नितान्त अनुचित मानते थे। डा० प्रसाद द्वारा सोमनाथ मन्दिर के उत्सव की अध्यक्षता, दिसम्बर 1950 में पटेल की शवयात्रा में भाग लेने और 1952 में बनारस यात्रा के अवसर पर श्रद्धावश पण्डितों के पेर धोने के सम्बन्ध में नेहरू के विरोध को अस्वीकार करते हुए अपने विवेक के अनुसार कार्य किये सौभाग्यवश इन मतभेदों को सार्वजनिकरूप से व्यक्त किया गया।

दूसरे राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन प्रशासन में स्वतन्त्ररूप से भूमिका निभाने की आकांक्षा रखते थे। जैसे जनरल थापर के त्यागपत्र देने परी जनरल चौधरी की नियुक्ति करन राधाकृष्णन के परामर्श का ही परिणाम था जबतम नेहरू जनरल कौल को इस पद पर नियुक्त करना चाहते थे। पंजाब के मुख्यमंत्री प्रतापसिंह कैरो के विरुद्ध जांच आयोग बैठाने का कार्य भी नेहरू ने अपनी इच्छा के विरुद्ध और डा० राधाकृष्णन के आग्रह पर ही किया था। नेहरू की मृत्यु के पश्चात परिष्ठतम केबिनेट सदस्य को कार्यवाहक प्रधानमंत्री बनाने का निर्णय भी डा० राधाकृष्णन ने ही लिया था।

डा० जाकिर हुसैन के राष्ट्रपति काल में बदली हुई दलीय स्थिति के कारण उनकी केन्द्र तथा राज्यों के सम्बन्धों में भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो सकती थी, परन्तु राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की पसंद के उमीदवार होने के कारण दोनों में इस प्रकार का कोई मतभेद नहीं हुआ इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपति जाकिर हुसैन पूर्णरूप से प्रधानमंत्री के कार्यों से सहमत रखते थे।

श्री वी० वी० गिरि तथा प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के सम्बन्ध सन् 1972 के अंत तक मधुर रहे, परन्तु 1973 के आरम्भ में राष्ट्रपति शासन को परामर्श देने, चेतावनी देने तथा भर्त्सना करने लगा। सन् 1974 में रेलवे हड़ताल के सम्बन्ध में और गुजरात विधान सभा भंग किए जाने के सम्बन्ध में उनके विचार प्रधानमंत्री से मेल नहीं खाते थे।

1974 में राष्ट्रपति पद के लिए यह धारणा अपनाई गई कि "राष्ट्रपति प्रधानमंत्री का आदमी हो" और फखरुद्दीन अली अहमद को राष्ट्रपति चुना गया। राष्ट्रपति अहमद के द्वारा 24 जून, 1975 की रात्रि को आपातकालीन उद्घोषणा पर यह जानते हुए हस्ताक्षर किये कि मंत्रिमण्डल ने इस विषय पर विचार नहीं किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस समय राष्ट्रपति एक रबड़ की मोहर करेप में कार्यरत है।

सन् 1977 में भारत के संवैधानिक इतिहास में पहली बार किसी महत्वपूर्ण संवैधानिक प्रश्न पर प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के बीच मतभेद 9 राज्यों की विधान सभाएं भंग किए जाने पर देखा गया। बी० डी० जत्ती ने स्थिति का अध्ययन करने के नाम पर 24 घण्टे से भी अधिक समय तक मंत्रीमण्डल के निर्णय पर अपनी स्वीकृति नहीं दी, परन्तु बाद में मंत्रीमण्डल के परामर्श को स्वीकार कर लिया गया। नीलम संजीव रेड्डी का राष्ट्रपति पद पर (जुलाई, 1977) सर्वसम्मत निर्वाचन हुआ और इससे राष्ट्रपति पद तथा पदधारी की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। 15 जुलाई, 1979 को असामान्य परिस्थितियों में मोरारजी देसाई के पद त्याग तथा यशवन्त राव चौहान द्वारा सरकार बनाने में

असमर्थता व्यक्त किए जाने के बाद राष्ट्रपति द्वारा मोरारजी देसाई और चरणसिंह से प्रधानमंत्री पद के लिए अपने दावे प्रस्तुत किए जाने पर चरणसिंह को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया गया। इसके साथ एक माह के अन्दर उनके द्वारा लोकसभा में विश्वास मत प्राप्त किए जाने का आदेश दिया। चरणसिंह सरकार वस्तुतः राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सरकार थी क्योंकि उसने लोकसभा में कभी विश्वास प्राप्त नहीं किया। चरणसिंह सरकार द्वारा प्रस्वावित नजरबन्दी अध्यादेश पर हस्ताक्षर करने से पूर्व राष्ट्रपति रेड्डी द्वारा सरकार से कुछ स्पष्टीकरण माँगे गए।

सन् 1980 में श्रीमती इन्दिरा गाँधी के पुनः सत्ता में आने पर राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री के मध्य पुनः मतभेद उभरे। सोवियतरूस की यात्रा के लिए श्री संजीव रेड्डी तैयार नहीं थे, परन्तु इसके लिए उन्हें बाध्य किया गया। जब राष्ट्रपति श्री लंका की यात्रा पर जाना चाहते थे तो श्रीमती गाँधी इसके लिए सहमत नहीं हुईं और इस प्रकार से ऐसी स्थिति आ गई थी कि देश-विदेश की स्थिति से सम्बन्धित ज्ञान राष्ट्रपति को केवल समाचार पत्रों से ही हो पाता था न कि प्रधानमंत्री द्वारा।

सन् 1982 में ज्ञानी जैलसिंह के राष्ट्रपति के रूप में चुने जाने के बाद, भारतीय संविधान में यह पहला मौका था कि राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री के बीच बहुत गहरे मतभेद हो गए जो कि आम जनता के समक्ष भी खुलकर आ गए थे। लगभग दो वर्षों तक कैबिनेट का कोई भी मंत्री राष्ट्रपति के बुलाने पर भी कामकाज के लिए राष्ट्रपति के पास नहीं पहुँचा। इसलिए राष्ट्रपति ने विवादास्पद भारतीय डाकघर (संशोधन) विधेयक पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया, सरकार से न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए स्पष्ट नीति न अपनाने के बारे में जवाब माँगा दूरदर्शन के एक तरफा प्रसारण पर ऐतराज उठाया, मुख्य चुनाव आयुक्त को बुलाकर हरियाणा में अन्य राज्यों के साथ चुनाव न कराए जाने का कारण पूछा, आन्ध्र प्रदेश की तत्कालीन राज्यपाल कुमुदबेन जोशी को दायरे से बाहर जानपे पर फटकारते हुए सरकार से पूछा कि राष्ट्र के नाम उनके संदेश को सेंसर क्यों किया गया? प्रधानमंत्री ने प्रोटोकाल की अनदेखी करते हुए राष्ट्रपति को अपनी यात्राओं के बारे में बताना बन्द कर दिया और राष्ट्रपति की जगह उपराष्ट्रपति को विदेश यात्राओं पर भेजना शुरू कर दिया। इन्दिरा कांग्रेस के एक सांसद और केन्द्रीय मंत्री के० के० विवारी द्वारा 1986 के बजट सत्र में राष्ट्रपति पर उग्रवादियों को प्रश्रय देने का आरोप तक लगा डाला था। राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री को लिखे एक पत्र में कहा कि असम, पंजाब और मिजोरम के बारे में समझौते करते समय उनको किसी भी स्तर की कोई जानकारी नहीं दी गई। संक्षेप में, राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह और प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के सम्बन्ध आपस में संविधान कीरूपरेखा से बाहर रहे। लेकिन इन सबके लिए प्रधानमंत्री ही जिम्मेदार थे।

25 जुलाई, 1987 को श्री आर० वेकटरमण को राष्ट्रपति चुने जाने के बाद उनके सामने कई मुद्दे थे, जैसे विवादास्पद डाक विधेयक, राष्ट्रपति का सूचना प्राप्त करने का अधिकार जो कि पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह के समय में मुख्य विवाद रहा और प्रधानमंत्री पर मुकद्दमा चलाने की याचिकाओं पर अनुमति देने से सम्बन्धित आदि। राष्ट्रपति आर० वेकटरमण का कार्यकाल ठीक-ठाक चला, केवल अक्टूबर 1987 में केंद्र सरकार को थोड़ी परेशानी हुई जब राष्ट्रपति ने राज्यपालों को चिट्ठी लिखी कि वे राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बिना राज्य से बाहर न जाएँ।

25, जुलाई 1992 को डा० शकर दयाल शर्मा को राष्ट्रपति चुना गया। राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री पी० वी० नरसिंह राव के बीच केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त पद पर श्री एस० वी० गिरि की नियुक्ति को लेकर मतभेद हुए थे। राष्ट्रपति द्वारा 14 अगस्त, 1995 के भाषण में आर्थिक सुधारों पर आलोचनात्मक टिप्पणी की गई थी। इन मतभेदों के बावजूद उनका कार्यकाल समरूपता से चला कोई असंवैधानिक विवाद नहीं उभरा।

25 जुलाई 1997 को राष्ट्रपति पद संभालने के तीन महीने के अन्दर श्री के० आर० नारायण ने वो स्थान प्राप्त किया जो इससे पूर्व किसी राष्ट्रपति ने नहीं किया था। 21 अक्टूबर, 1997 को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन करने की सिफारिश को इन्कार कर राज्य की वैध सरकार को बचाया और संविधान के रक्षक के रूप में उदाहरण पेश किया। इससे पहले किसी राष्ट्रपति ने केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के गलत फैसलों को इस

तरह नहीं फटकारा था। फरवरी 1998 में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी को लेकर राष्ट्रपति एवं गुजराल मंत्रिमण्डल के बीच विवाद उत्पन्न हो गया था। परन्तु गुजराल मंत्रिमण्डल ने न तो राज्यपाल को हटाने की सलाह दी और न ही इस मुद्दे का एजेण्डे में विचार के लिए शामिल किया गया।

सितम्बर, 1998 में राष्ट्रपति ने बिहार में राष्ट्रपति शासन लागू करने की प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी के मंत्रिमण्डल की सिफारिश को पुनर्विचार के लिए लौटाकर भी अपनी सूझबूझ का परिचय दिया। 27 जनवरी, 2000 को भारतीय गणतन्त्र की 50 वीं वर्षगाँठ पर एक समारोह में राष्ट्रपति ने जनतांत्रिक गठबन्धन को संविधान के साथ छेड़-छाड़ को लेकर सचेत किया। राष्ट्रपति के शब्दों में “आज जबकि संविधान की समीक्षा किए जाने और यहाँ तक कि एक नया संविधान को हमने विफल किया है।” सरकारी कर्मचारियों के राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की गतिविधियों में भाग लेने के मुद्दे को लेकर राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर स्पष्टीकरण देने को कहा। प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी जो कि विवादों से बचना चाहते हैं, राष्ट्रपति को बताया कि उनकी सरकार राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को राजनैतिक संगठन नहीं मानती और यह बात न्यायालयों द्वारा प्रमाणित हो चुकी है।

25 जुलाई, 2002 को डॉ० ए० पी० जे० अब्दुल कलाम को राष्ट्रपति की शपथ दिलाई गयी। राष्ट्रपति अब्दुल कलाम ने भी पूर्व राष्ट्रपति के० आर० नारायणन् की तरफ से अगस्त 2002 को जन प्रतिनिधित्व (संशोधन) बिल, 2022 को पुनर्विचार के लिए अटल बिहारी मंत्रिमण्डल को भेजकर अपनी सूझबूझ का परिचय दिया। और उनका कार्यकाल अब स्थिरता से चल रहा है।

समस्त विवेचन के आधार पर राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में निम्न बातें कही जा सकती हैं:-

1. राष्ट्रपति औपचारिक प्रधान है: भारत में संसदात्मक शासन व्यवस्था है और इस शासन में कार्यपालिका दो भागों में विभक्त होती है- नाममात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका। राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका है। राष्ट्रपति को राज्य का प्रतीक और औपचारिक अध्यक्ष कहा जा सकता है। डॉ० अम्बेडकर के अनुसार “हमारे राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो ब्रिटिश संविधान में सम्राट की है। वह राज्य का प्रधान है, किन्तु कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु राष्ट्र पर शासन नहीं करता है। प्रशासन में उसका वही स्थान है जो औपचारिक व्यवस्था द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति को प्रदान किया जाता है जो राष्ट्र के प्रत्येक निर्णय को मोहर लगाकर अपने नाम से राष्ट्र के समक्ष घोषित करता है।”
2. राष्ट्रपति की स्थिति ब्रिटिश सम्राट के समान है: संविधान के अनुसार हमारी शासन पद्धति ब्रिटिश की संसदीय व्यवस्था पर आधारित है। इसके अनुसार सम्राट नाममात्र का ही प्रधान है उसे वो अधिकार मिले हुए हैं वे मंत्रिमण्डल द्वारा प्रयोग किये जाते हैं। यही स्थिति भारत में राष्ट्रपति की है जो केवल संवैधानिक राज्याध्यक्ष है। संविधान सभा में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था, “हमने ब्रिटेन के सम्राट की भाँति यहाँ राष्ट्रपति का पद बनाया है। उसकी स्थिति संवैधानिक राष्ट्रपति की है। यद्यपि संविधान में इस आशय का कोई उपबंध नहीं है कि राष्ट्रपति को अपने मंत्रियों के परामर्श पर कार्य करना होता है, उसी प्रकार यही परम्परा यहाँ भी अपनायी गई है। इस तरह भारत का राष्ट्रपति सभी मामलों में संवैधानिक राष्ट्रपति बन जाएगा।”
3. राष्ट्रपति संविधान का गौरवपूर्ण अंश: राष्ट्रपति राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है। देशभक्ति तथा प्रेरक तथा सामाजिक उत्सवों का आकर्षण है। उसका जीवन और गतिविधियाँ व्यापक वार्षिक प्रचार प्राप्त करती है। वह जनता के लिए गौरव और प्रतिष्ठा का मूर्तरूप है। वह राष्ट्रीय उत्सवों का उद्घाटन व राष्ट्रीय समारोहों की अध्यक्षता करता है। गणतंत्र दिवस पर परेड की सलामी लेकर राष्ट्रपति राष्ट्र की शोभा बढ़ाता है। श्री जवाहर लाल नेहरू ने संविधान सभा में कहा था, “हमने अपने राष्ट्रपति को वास्तविक शक्ति नहीं दी है। वरन् हमने पद को सत्ता और प्रतिष्ठा से विभूषित किया है।

4. राष्ट्रपति परामर्शदाता और मित्र के रूप में: राष्ट्रपति केवल नाममात्र का अध्यक्ष नहीं हैं। वह परोक्षरूप से कार्य करते हुए अपने मंत्रियों से कार्य करने का आग्रह करता है। उसे मंत्रियों को परामर्श देने, प्रोत्साहित करने तथा चेतावनी देने की तीन शक्तियाँ प्राप्त हैं। उसकी गरिमामय स्थिति तथा उसका निष्पक्ष स्वरूप इस तथ्य को निश्चित कर देता है कि उसके द्वारा दिया गया परामर्श अत्याधिक सम्माननीय होगा। यदि राष्ट्रपति बुद्धिमान, पराक्रमी तथा चतुर हो तो उसकी उपेक्षा करना प्रधानमंत्री के लिए असम्भव है।
5. वैदेशिक मामलों को प्रभावित करना: राष्ट्रपति भारत की राजधानी में आने वाले विदेशी अतिथियों का स्वागत करता है। उनकी विदेश यात्राएँ विदेशों में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ाती है। राष्ट्रपति की विदेश यात्राएँ विदेशी राष्ट्रध्यक्षों पर एक मधुरम प्रेरणा की छाप छोड़ती है।

1.2.7 निष्कर्ष

भारत में राष्ट्रपति की स्थिति वैधानिक अध्यक्ष की है। फिर भी शासन में राष्ट्रपति का पद एक ऐसी घुरी है। जो संकट के समय संवैधानिक यन्त्र को सन्तुलित करता है। वस्तुतः राष्ट्रपति राज्य के अध्यक्ष के रूप में ही नहीं बल्कि भारत की स्वतंत्र आवाज के रूप में भी कार्य करता है। इसलिए राष्ट्रपति के पद की हमारी संवैधानिक व्यवस्था के रूप में एक श्रेष्ठ सामाजिक संस्था और एक वैधानिक जरूरत है।

1.2.8 मुख्य शब्दावली

- गणराज्य
- संघीय
- महाभियोग
- अध्यादेश
- आपातकालीन

1.2.9 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. भारत के राष्ट्रपति का कार्यकाल, वेतन भत्ते, विशेषाधिकारों और महाभियोग का वर्णन कीजिए।
2. भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों, कार्यों तथा स्थिति का वर्णन कीजिए।
3. भारत के राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन कीजिए।
4. भारत के राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों को परिभाषित कीजिए।

1.2.10 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Corner Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B. Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.

- P. Brass, *Language, Region and Politics in North India* London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, *Federalism in India: A Study of Union-State Relations*, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J.Harriss, *Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy*, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, *State Politics in India*, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, *India: Government and Politics in a Developing Nations*, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). *Democracy in India*, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) *Indian Government and Politics*, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, *Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability*, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, *Politics in India*, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, *Party System and Election Studies*, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, *Government and Politics in India*, Delhi, BI Publications, 1974.
- A.C. Noorani, *Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States*, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, *An Introduction to the constitution of India*, New Delhi, 1998.
- A. Ray, *Tension Areas in India's Federal System*, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). *Coalition Politics in India*, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

1.3 भारतीय संसद तथा उसका कार्यकरण

(The Indian Parliament and Its Working)

1.3.1 परिचय

संसदीय संस्थाएं भारतीय शासन-तन्त्र के सदा धूमते रहने वाले पहिरे हैं। इन संस्थाओं के कार्य-परिणामों का लेखा-जोखा हमारे नूतन गणराज्य में जनतन्त्रात्मक उद्यम के लिए महत्त्व का दस्तावेज है। हमारे संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय विधान-मण्डल को संसद की संज्ञा दी गई है और यह संसद द्विसदनात्मक सिद्धान्त के आधार पर संगठित की गई है। संविधान के अनुच्छेद 76 में लिखा है, "संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी, जिसके नाम क्रमशः राज्यसभा और लोकसभा होंगे।" भारत में संसदात्मक लोकतन्त्र को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का समन्वय करन सिद्धान्ततः आवश्यक था, अतः राष्ट्रपति को भी संसद का अभिन्न भाग बनाया गया है।

1.3.2 उद्देश्य

- भारतीय संसदीय प्रणाली को जानना।
- संसद के कार्यों एवं शक्तियों को समझना।
- लोकसभा व राज्यसभा के आपसी संबंधों को जानना।
- संसद सदस्यों के विशेषाधिकार का जानना।

1.3.3 भारतीय संसद की संवैधानिक स्थिति (क्या संसद सम्प्रभु है?)

(Constitutional Position of Indian Parliament (Is Indian Parliament a Sovereign Body?))

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, "जनतन्त्रात्मक प्रणाली का केन्द्रबिन्दु राष्ट्र की संसद है। प्रशासन की बागडोर चाहे किसी दल या वर्ग के हाथ में हो, जब तक संसद के अधिकार अक्षुण्ण हैं कार्यक्षेत्र तथा कार्य संचालन की दृष्टि से उसका स्वरूप सम्प्रभु है वह राष्ट्र बड़े-से-बड़े संकट का सामना कर सकता है।" संसद की सम्प्रभुता पर विचार ब्रिटिश संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। जैसा कि सर एडवर्ड कोक का मत है, "संसद की शक्ति और अधिकारक्षेत्र इतना सर्वोपरि और पूर्ण है कि इसकी कोई सीमाएं नहीं बाधी जा सकती। डी लोमे ने तो ब्रिटिश संसद के बारे में यहां तक कह डाला है कि "संसद सभी कुछ कर सकती है, सिवाय स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री नहीं बना सकती है।" वस्तुतः ब्रिटिश संसद को जो अप्रतिबन्धित शक्तियां प्राप्त हैं इसे ही 'संसदीय सार्वभौमिकता या सम्प्रभुता' कहा गया है। संसद जो कुछ चाहे, जिस किसी भीरूप में चाहे, विधि निर्माण कर सकती है तथा ब्रिटिश संसद जो कुछ विधि स्वीकृत करेगी वह देश का कानून होगा।

भारत में संसदीय ढांचे की शासन पद्धति को अपनाया गया है जो बहुत कुछ ब्रिटिश नमूने पर आधारित है, किन्तु फिर भी हमारी शासन-व्यवस्था नितान्त संसदीय नहीं है। भारतीय संविधान का स्वरूप किसी विदेशी संविधान का अनुकरण मात्र न होकर अपने में एक अनुपम और नवीन प्रयोग है। हमारे संविधान निर्माता इस तथ्य से परिचित थे कि ब्रिटिश ढंग की संसदीय प्रभुता स्वीकर करने में अनेक संस्थानात्मक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। वे तो भारत के लिए व्यावहारिक शासन व्यवस्था चाहते थे जो कि भारतीय वातावरण में पोषित हो सके। इसी कारण भारतीय संसद को ब्रिटिश संसद की भांति सम्प्रभु नहीं बनाया गया।

भारतीय संसद की सम्प्रभुता का प्रश्न अनेक अवसरों पर वाद-विवाद का कारण बना है। केशवानन्द भारती के मामले में श्री पालकीवाला ने इसी प्रश्न को उठाते हुए संसद की शक्तियों को मर्यादित बतलाया। उनके अनुसार

संसद के श्रणिक बहुमत द्वारा बुनियादी मानव स्वतन्त्रता का हरण नहीं किया जा सकता एवं संसद संविधान के अनिवार्य और स्थायी तत्वों को संशोधित नहीं कर सकती। महान्यायवादी नीरेन डे का मत था कि संसद के संविधान संशोधन के अधिकार पर कोई सीमा नहीं लगाई जा सकती प्रायः भारतीय संसद की स्थिति की तुलना ब्रिटिश संसद से की जाती है। जो उचित नहीं है क्योंकि ब्रिटेन का कोई लिखित संविधान नहीं है ओर विधि की दृष्टि से संसद को सार्वभौम प्रभुता प्राप्त है। डॉ. सुभाष कश्यप के अनुसार, “भारत में प्रभुता केवल जनता में निहित है, संसद के अधिकार संविधान निर्दिष्ट मात्र है।” नारमन डी. पामर ने लिखा है, “भारतीय संसद विस्तृत शक्तियों का प्रयोग करती है तथा महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करती है। यद्यपि इसका मुख्य कार्य भारत राज्य-क्षेत्र के लिए विधियों का निर्माण करना है तथापि इस दृष्टि से इसके कार्यों का सम्पादन करती है। यद्यपि इसका मुख्य कार्य भारत राज्य-क्षेत्र के लिए विधियों का निर्माण करना है तथापि इस दृष्टि से इसके कार्यों पर अनेक सीमाएं हैं।

संघीय प्रणाली तथा संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुननिरीक्षण की शक्ति प्रदान करने से इनकी शक्तियां सीमित हो गई है। इसी प्रकार प्रधानमंत्री की वास्तविक शक्तियों तथा कांग्रेस दल के प्रचण्ड बहुमत के कारण भी संसद की शक्तियां हो गई है।” संक्षेप में, भारतीय संसद की सार्वभौमिकता पर कतिपय मर्यादाएं इस प्रकार हैं:

- (1) लिखित संविधान संसद देश के लिखित संविधान की शिशु है। संसद की सार्वभौमिकता हमारे लिखित संविधान के विभिन्न प्रावधानों के अनुच्छेद 2451 द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि व्यवस्थापन शक्तियों का उपयोग संसद संविधान के अनुसार करेगी। अमरीकी शासन प्रक्रिया के सदृश्य भारतीय प्रणाली में भी दो प्रकार के कानूनों में अन्तर पाया जाता है। ये दो प्रकार के कानून ‘साधारण कानून’ और संवैधानिक कानून के नाम से जाने जाते हैं। साधारण कानून का निर्माण संवैधानिक कानून के अन्तर्गत स्थापित विभिन्न व्यवस्थापिकाओं द्वारा किया जाता है। अतः यह स्वाभाविक है कि संविधान द्वारा स्थापित व्यवस्थापिकाएं संविधान के विरुद्ध कानून का निर्माण नहीं कर सकती।
- (2) संघवाद सम्बन्धी प्रावधान-भारत में संघात्मक शासन-व्यवस्था होने के कारण राज्य सूची के विषयों पर संसद की कानून बनाने की शक्ति सीमित हो गई है। प्रो. टी. के टोपे ने लिखा है कि “भारतीय संसद एक संघीय संविधान के अन्तर्गत विधायिका है। ब्रिटिश संसद के तुल्य इसकी शक्तियां असीमित नहीं हैं।
- (3) संविधान में संशोधन संविधान के कतिपय अनुच्छेदों के संशोधनों हेतु संसद को राज्य विधानमण्डल के पुष्टिकरण पर निर्भर रहना पड़ता है। संविधान के वे अनुच्छेद जिनका सम्बन्ध केन्द्र-राज्य सम्बन्धों से हैं, यदि उनमें कोई संशोधन करना हो तो संसद को कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों का समर्थन प्राप्त करना पड़ता है।
- (4) न्यायिक पुनविलोकन संसद द्वारा पारित संविधान-विरुद्ध विधि को भारत का सर्वोच्च न्यायालय अवैध घोषित कर सकता है, संसदीय विधियों को महारे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मान्यता देना आवश्यक है। बी. के मुखर्जी के अनुसार, “यह निर्णय करना न्यायापालिका का काम है कि अमुक कानून वैधानिक है या नहीं।” न्यायालय के इस अधिकार को न्यायिक पुनविलोकन शक्ति कहते हैं। यह सर्वविदित है कि गोपालन बनाम मद्रास राज्य, गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य, केशवाननंद भारती, आदि मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने संसद द्वारा निर्मित कानूनों को अवैध घोषित किया अथवा संसद की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाए।
- (5) राजनीतिक परिसीमाएं- राजनीतिक दृष्टि से भी संसद लोकमत के प्रतिकूल विधियों का निर्माण नहीं कर सकती। उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी समुचित सम्मान करना होता है। संसद पर प्रधानमंत्री और मन्त्रिमण्डल का भी नियन्त्रण रहात है। प्रधानमंत्री संसद के निम्न सदन का विघटन करवा सकता है।

यह सत्य है कि हमारी संसद की शक्तियों का क्षेत्र लिखित संविधान एवं सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार द्वारा प्रतिबन्धित किया गया है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि संसद केवल अनुमोदन करने वाली एवं प्रचार करने वाली संस्था मात्र बन गई है। वस्तुतः भारत में संसद वह नींव है जिस पर हमारे लोकतन्त्र की भव्य इमारत खड़ी है। संसद वह स्रोतस्विनी है, जो अपनी अविरल, निर्मल और उन्मुक्त धारा से भारतीय लोकतन्त्र के हर खेत को सींचती है।, जिससे राष्ट्र को पोषण मिलता है। संसद हमारे देश का ऐसा केन्द्र-बिन्दु है, जहां जनता की आत्मा का वास है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में, “संसद एक दल की नहीं, एक बल की नहीं, किन्तु सभी की है और इसलिए वह सार्वभौम है।”

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो भारतीय संसद की शक्तियों अन्य संघीय व्यवस्थापिकाओं से अधिक हैं। अमरीकी कांग्रेस तथा आस्ट्रेलियन संसद राज्य सम्बन्धी विषयों पर कानून निर्माण नहीं कर सकती है, जबकि भारतीय संसद को विशिष्ट परिस्थितियों में राज्यों के लिए कानून निर्माण करने का अधिकार है। निष्कर्षतः कार्य एवं शक्ति के दृष्टिकोण से भारतीय संसद की स्थिति ‘संसदीय प्रभुता’ तथा न्यायिक सर्वोच्चता के मध्य की है दोनों ही प्रकार की अतियों से संविधान निर्माताओं ने संसद की स्थिति की सुरक्षा की है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, “संसद की असली सम्प्रभुता इसी में निहित है कि वह अपने और जनता के अधिकारों के बीच भेद न करे। यदि प्रजातन्त्र को अस्थिर और सफल बनाना है, तो संसद को अपने अधिकारों की रक्षा के साथ-साथ प्रजा की आवाज सुनने को भी सदा तैयार रहना चाहिए।

1.3.4 भारतीय संसद के कार्य एवं शक्तियां

(Powers and Functions of the Parliament)

भारतीय संसद सम्प्रभु नहीं है, किन्तु विस्तृत शक्तियों का प्रयोग करती है तथा महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करती है। इसकी शक्तियों का उल्लेख निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है:

- (1) **व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियां**— संसद को संघीय-सूची के सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। इसके अतिरिक्त, सभी संघीय क्षेत्रों के लिए संसद को सदैव ही सभी विषयों पर संसद कानून बना सकती है। जब कभी दो या अधिक राज्यों के विधानमण्डल प्रस्वाव पास करके संसद से किसी विषय के बारे में कानून बनाने की प्रार्थना करें तो संसद कानून बना सकती है। इसी प्रकार जब राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से प्रस्वाव परित करके राष्ट्रीय हित में संसद को राज्य-सूची के किसी विषय पर कानून बनाने का अनुरोध करे तो संसद कानून बना सकती है।
- (2) **वित्तीय शक्तियां**—संविधान द्वारा संसद को संघीय वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है। सभी कर सम्बन्धी प्रस्वाव तथा अनुदानों की मांगें संसद द्वारा स्वीकृत होने पर ही प्रभावी होती है। क्योंकि संविधान के अनुसार विधि के प्राधिकार के बिना न तो कर लगाया जाएगा और न एकत्रित किया जाएगा। संसद ही प्राक्कलन और लोक-लेखा समिति को नियुक्त करती है तथा नियन्त्रक व माहलेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार कर उचित कार्यवाही करती है। संसद की स्वीकृति के बिना सरकार को राष्ट्रीय वित्त में से खर्च का अधिकार नहीं होता है।
- (3) **कार्यपालिका शक्तियां**—भारत में संघात्मक शासन प्रणाली अपनाई गई है। अतः मन्त्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी है। मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक सत्तारूढ़ रह सकता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक तरीकों से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है। संसद के सदस्य ‘अविश्वास के प्रस्ताव’, ‘निन्दा प्रस्ताव’ एवं ‘स्थगन प्रस्वाव’ द्वारा सरकार पर नियन्त्रण रखते हैं तथा उसे उत्तरदायी बनाए रखते हैं। संसद के सदस्य मन्त्रियों से सकारारी नीतियों के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ

सकते हैं तथा सरकार की आलोचना कर सकते हैं। संसद सदस्य बजट को अस्वीकार करके, मन्त्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकृत करके और सरकारी विधेयक में संशोधन करके अपना विरोध प्रदर्शित कर सकते हैं।

- (4) **राज्यों से सम्बन्धित शक्तियाँ**—संविधान में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि राज्यों की इच्छा के बिना भी वह उनकी सीमाओं तथा नामों में परिवर्तन कर सकती है, नवीन राज्य का निर्माण कर सकती है तथा किसी राज्य का अस्तित्व समाप्त कर सकती है। संसद को भारतीय नागरिकता के निर्धारण का भी अधिकार है।
- (5) **संविधान संशोधन से सम्बन्धित शक्तियाँ**—संविधान के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि वह संविधान में संशोधन कर सकती है। यहां तक कि संविधान के संशोधन की जो प्रक्रिया है उसको भी संसद संशोधित कर सकती है।
- (6) **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य**—संविधान के अनुच्छेद 54 के अनुसार संसद को कुछ निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित निर्वाचक मण्डल के अंश हैं। अनुच्छेद 66 के अनुसार, संसद उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं।
- (7) **महाभियोग का अधिकार**—संसद के दोनों सदनों द्वारा निर्धारित विशेष प्रक्रिया के आधार पर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जा सकता है। इसी प्रकार उच्चतम तथा न्यायालय के न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाने तथा उन्हें पदच्युत करने का प्रस्ताव भी संसद पारित कर सकती है।

इस प्रकार संसद की उपरोक्त शक्तियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय—संसद की शक्तियों एवं कार्य विस्तृत हैं। संसद सार्वजनिक विवाद—स्थल का कार्य करती है, इस दृष्टि संसद लोकप्रिय भावना के दर्पण तथा शिक्षक के रूप में कार्य करती है।” परन्तु यह बात महत्वपूर्ण है कि संसद को लिखित संविधान के अन्तर्गत ही अपनी कार्यवाहियाँ चलानी पड़ती है। जब भी संविधान के जरिए संसद के कार्य में रुकावट पैदा होती है संसद संविधान कर सकती है।

1.3.5 संसद का गठन

(Composition of the Parliament)

संविधान के अनुच्छेद 79 के द्वारा व्यवस्था की गई है कि भारतीय संघ की एक संसद होगी जिसका निर्माण राष्ट्रपति तथा दो सदनों से मिलकर होगा, जिसके नाम क्रमशः राज्यसभा तथा लोकसभा होंगे। इस प्रकार भारतीय संविधान द्वारा ब्रिटिश संविधान की तरह राज्य के औपचारिक प्रधान को संसद का अंग माना गया है। 1919 और 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की गई थी और वर्तमान समय में संघात्मक विधानों में द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की जाती है। अतः इनसे प्रेरणा लेते हुए भारतीय संविधान भी संघीय क्षेत्र में एक द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना करता है, जिसका उच्च सदन राज्यसभा है, जिसमें राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं तथा निम्न सदन लोकसभा में जनता द्वारा प्रत्यक्षरूप से निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं।

राज्य सभा का गठन

(Composition of Rajya Sabha)

राज्यसभा संसद का द्वितीय या उच्च सदन है। संविधान के अनुच्छेद 80 के अनुसार राज्यसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 250 हो सकती है, परन्तु आजकल यह संख्या 245 है। इनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामजद किए जाते हैं। ये ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें कला, साहित्य, विज्ञान और समाज सेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान

और अनुभव प्राप्त हो। शेष सदस्य जनता द्वारा अप्रत्यक्षरूप से निर्वाचित होते हैं। वे सदस्य संघ की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इनका चुनाव एकल संक्रमणीय मत तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अनुसार संघ के विभिन्न क्षेत्रों की विधानसभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाता है। जिन क्षेत्रों में विधानसभाएं नहीं होती, यहां पर राज्यसभा के सदस्यों के चुनाव के लिए विशेष निर्वाचक मण्डल गठित किए जाते हैं।

हमारे संविधान में इकाइयों को राज्यसभा में प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर दिया गया है और अमरीका के समान भारत में संघ की छोटी-बड़ी सभी इकाइयों को द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। इस सम्बन्ध में संविधान यह व्यवस्था करता है कि एक राज्य की जनसंख्या के प्रथम 50 लाख व्यक्तियों तक हर 10 लाख व्यक्तियों के लिए एक और उसके बाद हर 20 लाख पर एक के हिसाब से प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा।

डॉ. लक्ष्मीमल सिंधवी के अनुसार राज्यसभा के गठन में चार सिद्धान्त निहित हैं: अर्द्धसंघीय सिद्धान्त प्रतिनिधित्व सिद्धान्त, सयुक्त पुनर्विचार और नियन्त्रण तथा सन्तुलन का सिद्धान्त तथा प्रख्यात और विशिष्ट व्यक्तियों को भारतीय राज-व्यवस्था से सम्बद्ध करने का सिद्धान्त। राज्यसभा के गठन का निकट से अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि इसके निर्वाचन की प्रक्रिया भिन्न है तथापि यह लोकसभा से मूलतः भिन्न नहीं है। जनवरी 2002 में विभिन्न राज्यों और केन्द्र-शासित क्षेत्रों को राज्यसभा में इस प्रकार प्रतिनिधित्व प्राप्त है:

योग्यताएं और कार्यकाल-राज्यसभा का सदस्य बनने के लिए निम्नलिखित योग्यताएं आवश्यक हैं:

1. वह भारत नागरिक हो।
2. उसकी आयु 30 वर्ष से कम न हो।
3. वह किसी भी लाभ के पद पर न हो, विकृत मस्तिष्क का न हो, दिवालिया न हो।
4. ऐसी अन्य योग्यताएं रखता हो, जो संसद के किसी कानून द्वारा निश्चित की जाएं।

अनुच्छेद 102 के अनुसार संघ अथवा राज्यों के मन्त्री पर लाभ के पद नहीं समझे गए हैं तथा यदि कभी यह प्रश्न उठता है कि संसद के किसी सदन का कोई सदस्य उपर्युक्त योग्यताएं रखता है अथवा नहीं, तो यह प्रश्न निर्णय के लिए राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की राय के आधार पर जो निर्णय देगा, वह अन्तिम होगा।

राज्यसभा एक स्थाई सदन होगा और इसके सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष होगा। इसे स्थायी सदन इसलिए माना गया है कि इसकी अवधि से पूर्व राष्ट्रपति इसे भंग नहीं कर सकता और पूरी राज्यसभा का चुनवा एक साथ नहीं होता है। राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल यद्यपि 6 वर्ष है, परन्तु उनमें से एक तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष पश्चात् पदनिवृत्ति हो जाएंगे और नवीन एक तिहाई सदस्य पद ग्रहण करेंगे।

पदाधिकारी- संविधान के अनुच्छेद 89 (1) के अनुसार भारत को उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है तथा राज्यसभा अपने में से किसी एक सदस्य को उपसभापति निर्वाचित करती है। उपराष्ट्रपति को राज्यसभा के रूप में 40,000 रुपये मासिक वेतन मिलता है। सेवानिवृत्त उपराष्ट्रपति को 20000 रु0 प्रतिमाह पेंशन दिए जाने का प्रावधान किया गया है। राज्यसभा का उपसभापति जब सभा का सदस्य नहीं रह जाता, तो उसका पद रिक्त हो जाता है। वह स्वयं भी त्याग-पत्र दे सकता है अथवा सभा के सदस्यों द्वारा बहुमत से प्रस्ताव पारित कर उसे उसके पद से हटाया जा सकता है। यदि सभापति अनुपस्थित रहता है अथवा ऐसे समय में जब उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा हो, राज्यसभा का उपसभापति सभापति के कर्तव्यों का पालन करता है तथा यदि कभी उपसभापति का स्थान रिक्त हो, तब राज्यसभा का ऐसा सदस्य, जिसे राष्ट्रपति इस कार्य के लिए नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा। राज्यसभा के सभापति और उपसभापति को भारत की संचित निधि में से वेतन दिया जाएगा। राज्यसभा के सभापति एवं उपसभापति को वे सम्स्त अधिकार प्राप्त होते हैं जो सामान्यतया विधानमंडलों के अध्यक्षों को प्राप्त रहते हैं यथा-सदस्यों को भाषण देने की अनुमति प्रदान करना,

कार्यप्रणाली सम्बन्धी प्रश्नों को तय करना, वाद-विवाद को सुसंगत बनाए रखना, विचारधीन प्रश्न पर मतदान का परिणाम घोषित करना राज्यसभा की गणपूर्ति अपनी सदस्य संख्या की 1/10 है।

राज्यसभा के कार्य और शक्तियां: लोकसभा और राज्यसभा में सम्बन्ध

(Power and Functions of the Council of States: Relations between Lok Sabha and Rajya Sabha)

राज्यसभा की रचना लोकसभा के सहयोगी और सहायक सदन के रूप में की गई है। राज्यसभा के कार्य और शक्तियों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों से किया जा सकता है:

1. **विधायी शक्तियां**— लोकसभा के साथ-साथ राज्यसभा भी विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य करती है। संविधान के द्वारा अवितीय विधेयक के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्तियां दी गई हैं। अवितीय विधेयक लोकसभा या राज्यसभा—दोनों सदनों में से किसी भी सदन में पहले प्रस्तावित किया जा सकता है और दोनों सदनों से पारित होने के बाद ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए जाता है। व्यवहार में स्थिति यह है कि सामान्यतया सभी महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाते हैं, राज्यसभा में नहीं।

यदि दोनों सदनों में किसी विधेयक के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं तो राष्ट्रपति के द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई जा सकती है। विधेयक एक सदन द्वारा स्वीकार किए जाने के बाद यदि 6 महीने की अवधि के अन्दर दूसरे सदन के द्वारा उसे स्वीकार नहीं किया जाता है, तो संयुक्त अधिवेशन बुलाया जाता है। संयुक्त बैठक की अध्यक्षता लोकसभा के स्पीकर द्वारा की जाती है और संयुक्त बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता है। (अनुच्छेद 108)। इस प्रकार औपचारिक दृष्टि से अवितीय विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदन समान स्तर पर हैं, लेकिन व्यवहार में राज्यसभा की स्थिति दो बातों की दृष्टि से निर्बल है। प्रथम बात यह है कि संयुक्त अधिवेशन बुलाने की शक्ति राष्ट्रपति को है और राष्ट्रपति द्वारा यह कार्य मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के आधार पर किया जाता है। मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है, अतः बहुत अधिक संभावना इस बात की है कि संयुक्त अधिवेशन बुलाने के सम्बन्ध में मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के दृष्टिकोण को ही अधिक ध्यान में रखेगी। उदाहरण के लिए, यदि कोई विधेयक राज्यसभा से स्वीकृत, लेकिन लोकसभा से अस्वीकृत हो गया है तो संभावना इस बात की है कि इस विधेयक पर संयुक्त अधिवेशन नहीं बुलाया जाएगा और विधेयक अपने आप ही समाप्त हो जाएगा। द्वितीय बात यह है कि संयुक्त बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता है और लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की सदस्य संख्या से दुगुनी से भी अधिक होने के कारण इस विधेयक की स्वीकृति या अस्वीकृति, लोकसभा की इच्छानुसार ही होगी। इस प्रकार कानूनी दृष्टि से अवितीय विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदनों के समान अधिकार प्राप्त हैं, किंतु व्यवहार में राज्यसभा किसी विधेयक को पारित करने में अधिक-से अधिक 6 माह का विलम्ब कर सकती है। यह लोकसभा द्वारा इच्छित विधेयक के पारित होने में स्थाई बाधा नहीं डाल सकती। अभी तक केवल दो बार दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई गई है। प्रथम बार 1961 में 'दहेज निषेध विधेयक' के सम्बन्ध में मतभेद दूर करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक हुई थी। दो दिन की बैठक में मतभेद दूर हो जाने पर विधेयक पारित कर दिया गया। दूसरी बार मई 1978 में 'बैंकिंग सेवा आयोग विधेयक' पर विचार के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई गई। संयुक्त बैठक में यह विधेयक उसी रूप में पारित हो गया, जिस रूप में इसे लोकसभा के द्वारा पारित किया गया था।

(2) **संविधान संशोधन की शक्ति (Power of amending the Constitution)**— संविधान संशोधन के सम्बन्ध में राज्यसभा को लोकसभा के समान ही शक्ति प्राप्त है। संविधान में संशोधन का विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है और संशोधन प्रस्ताव तभी स्वीकृत समझा जाएगा, जबकि उसे संसद

के दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित कर दिया जाए। संशोधन प्रस्ताव पर संसद के दोनों सदनों में असहमति होने पर संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की कोई व्यवस्था नहीं है। ऐसी स्थिति में संशोधन प्रस्ताव गिर जाएगा।

व्यवहार के अन्तर्गत अब तक तीन बार संविधान संशोधन के प्रस्ताव पर लोकसभा और राज्यसभा में मतभेद की स्थिति पैदा हुई है। सर्वप्रथम, 1970 में प्रिवीपर्स समाप्त करने से सम्बन्धित संविधान संशोधन का प्रस्ताव लोकसभा में पारित होकर जब राज्यसभा में गया, तब राज्यसभा के द्वारा उसे अस्वीकार कर दिया गया। द्वितीय, 1978 में जब लोकसभा द्वारा 45वें संविधान संशोधन विधेयक को पारित कर राज्यसभा में भेजा गया, तो राज्यसभा के द्वारा इस संशोधन विधेयक को 5 संशोधनों सहित पारित किया गया। ऐसी स्थिति में लोकसभा और शासन के सम्मुख दो मार्ग थे— समस्त संशोधन विधेयक को छोड़ दिया जाए या उसीरूप में स्वीकार कर लिया जाए, जिसरूप में उसे राज्यसभा के द्वारा पारित किया गया है। लोकसभा के द्वारा दूसरे मार्ग को अपनाया गया। तृतीय, 1989 में 64वें और 65वें संविधान संशोधन विधेयकों को लोकसभा द्वारा पारित किए जाने के बावजूद राज्यसभा से दो तिहाई समर्थन नहीं मिला। इस प्रकार राज्यसभा के द्वारा संविधान संशोधन के सम्बन्ध में अपनी शक्ति का परिचय दिया गया।

अब तक केवल एक संविधान संशोधन विधेयक (41वें संशोधन विधेयक, जो बाद में छोड़ दिया गया) राज्यसभा में प्रस्तावित किया गया है, शेष सभी लोकसभा में।

- (3) **वित्तीय शक्ति(Financial Power)**— राज्यसभा को कतिपय महत्वहीन वित्तीय शक्तियां भी प्राप्त हैं, यद्यपि संविधान द्वारा ही इस सम्बन्ध में राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में निर्बल स्थिति प्रदान की गई है। संविधान के अनुसार वित्त-विधेयक पहले लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाएंगे। लोकसभा द्वारा स्वीकृत होने पर वित्तीय विधेयक राज्यसभा में भेजे जाएंगे जिसके द्वारा अधिक-से-अधिक 14 दिन तक इस विधेयक पर विचार किया जा सकेगा। राज्यसभा वित्त-विधेयक के सम्बन्ध में अपने सुझाव लोकसभा को दे सकती है, लेकिन यह लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है कि वह उन प्रस्तावों को माने या न माने। इस दृष्टि से भारत में राज्यसभा की स्थिति ब्रिटेन के आउस ऑफ लार्ड्स के द्वारा वित्त विधेयक पर एक माह तक विचार किया जा सकता है। संवैधानिक इतिहास में राज्यसभा के द्वारा पहली बार 1977-78 के वार्षिक बजट में 6 संशोधन करने की सिफारिश की गई, लेकिन लोकसभा ने राज्यसभा द्वारा प्रस्तावित संशोधन रद्द कर दिए।
- (4) **कार्यपालिका शक्ति**— संसदात्मक शासन-व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद् संसद के लोकप्रिय सदन के प्रति ही उत्तरदायी होती है। अतः भारत में भी मन्त्रिपरिषद् केवल लोकसभा के प्रति ही सामूहिकरूप से उत्तरदायी है न कि राज्यसभा के प्रति। राज्यसभा के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं और उनकी आलोचना भी कर सकते हैं, परन्तु उन्हें अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मन्त्रियों को हटाने का अधिकार नहीं है। यह अधिकार केवल लोकसभा को ही प्राप्त है। अतः कार्यकारिणी पर नियन्त्रण की दृष्टि से लोकसभा राज्यसभा की तुलना में निश्चितरूप से अधिक शक्तिशाली है।
- (5) **विविध शक्तियां (Miscellaneous Power)**— उपर्युक्त शक्तियों के अलावा राज्यसभा को कुछ अन्य शक्तियां भी प्राप्त हैं जिनका प्रयोग वह लोकसभा के साथ मिलकर कर सकती है। ये शक्तियां और कार्य इस प्रकार हैं:
- राज्यसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते हैं।
 - राज्यसभा के सदस्य लोकसभा सदस्यों के साथ मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करते हैं।

- iii. राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा अन्य कुछ पदाधिकारियों पर महाभियोग लगा सकती है। महाभियोग केवल तभी पारित समझा जाता है जब दोनों सदन इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार कर लें।
- iv. राज्यसभा के साथ मिलकर बहुमत से प्रस्ताव पास कर उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटा सकती है। उपराष्ट्रपति को पद से हटाने का प्रस्ताव प्रथम बार राज्यसभा से ही पारित होकर लोकसभा के पास जाता है।
- v. एक माह के अधिक की अवधि तक यदि आपात्काल लागू रखना हो तो इस प्रकार से प्रस्ताव का अनुमोदन लोकसभा तथा राज्यसभा दोनों से होना आवश्यक है। लोकसभा के विघटन की स्थिति में केवल राज्यसभा का अनुमोदन ही आवश्यक है। आपात्काल में मौलिक अधिकारों के निलम्बन के लिए दिए गए आदेश को भी यथाशीघ्र संसद के दोनों सदनों के सामने रखा जाना चाहिए।
- vi. बोम्मई मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के बाद राज्य की विधानसभा का विघटन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि राष्ट्रपति उद्घोषणा का संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन न कर दिया जाए।

(6) **विशेष अधिकार(Special Power)**— अन्त में राज्यसभा को दो ऐसे अन्वय अधिकार भी प्राप्त है। जो लोकसभा को प्राप्त नहीं है और जिनका प्रयोग अकेले राज्यसभा ही करती है। इस प्रकार की शक्तियों का सम्बन्ध देश के संघीय ढांचे से है और राज्यसभा को राज्यों का एक मात्र प्रतिनिधि होने के नाते निम्न प्रकार की दो शक्तियां प्राप्त है:

- 1 अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्यसभा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर सकती है। राज्यसभा द्वारा ऐसे प्रस्ताव पास कर दिए जाने पर संसद उस विषय पर कानून का निर्माण कर सकती है। ऐसा प्रस्ताव प्रारम्भ में एक वर्ष के लिए लागू होता है, लेकिन यदि राज्यसभा चाहे तो हर बार इसे एक वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है।
- 2 संविधान के अनुच्छेद 312 के अनुसार राज्यसभा ही अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास कर नई अखिल भारतीय सेवाएं स्थापित करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को दे सकती है। राज्यसभा जब तक इस प्रकार का प्रस्ताव पारित न कर दें, तब तक संसद या भारत सरकार किन्हीं नवीन अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था नहीं कर सकती है।

राज्यसभा की शक्तियों के इस अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि राज्यसभा न केवल द्वितीय सदन वरन् द्वितीय महत्व का सदन ही है। शक्तियों की दृष्टि से इसकी स्थिति 'ब्रिटिश लॉर्ड सभा' और 'अमरीकी सीनेट' के बीच में ही कहीं है। वास्तव में, संविधान-निर्माताओं द्वारा राज्यसभा को प्रथम सदन के सहायक और सहयोगी सदन की भूमिका ही प्रदान की गई है, प्रतिद्वन्द्वी सदन की नहीं। लोकसभा की तुलना में निर्बल होते हुए भी उसकी स्थिति और उसकी शक्तियों का महत्व है। पायली के शब्दों में, "राज्यसभा एक निरर्थक सदन या व्यवस्थापन पर केवल रोक लगाने वाला सदन ही नहीं है। वास्तव में, राज्यसभा शासनतंत्र का एक आवश्यक अंग है, केवल दिखाने मात्र का दूसरा सदन नहीं है।"

राज्यसभा का आलोचनात्मक मूल्यांकन

राज्यसभा की स्थिति प्रारम्भ से ही पर्याप्त विवाद का विषय रही है। यद्यपि संविधान सभा का एक बहुत बड़ा बहुमत राज्यसभा की स्थापना के पक्ष में था, लेकिन दूसरी ओर सदस्यों के द्वारा द्वितीय सदन की उपयोगिता

पर सन्देह व्यक्त करते हुए एक सदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना के प्रस्ताव भी लाए गए थे। संविधान सभा के प्रमुख सदस्य डॉ. अम्बेडकर भी द्वितीय सदन के बहुत अधिक पक्ष में नहीं थे। संविधान लागू किए जाने के बाद भी अनेक बार इसकी आलोचना करते हुए इसके समाप्त कर देने तक की बात कही गई है। राज्यसभा के प्रति की गई आलोचनाओं का प्रमुखरूप से दोरूपों में, अध्ययन किया जा सकता है:

1 रचना सम्बन्धी आलोचनाएं (**Criticisms regarding composition**)—रचना की दृष्टि से राज्यसभा की बहुत अधिक आलोचना की जाती है और इस प्रकार की आलोचना के अनेक आधार हैं। सर्वप्रथम, यह कहा जाता है कि संघात्मक व्यवस्था में द्वितीय सदन का गठन संघात्मकता अर्थात् राज्यों की समानता के सिद्धान्त के आधार पर किया जाना चाहिए, लेकिन भारत में राज्यसभा के गठन में अमरीका की सीनेट या आस्ट्रेलिया संघ के द्वितीय सदन के समान संघात्मकता के सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया है। राज्यसभा का गठन दलगत आधार पर होता है और राज्यसभा के सदस्यों द्वारा दलगत आधार पर ही कार्य किया जाता है। श्री गिरधारीलाल के शब्दों में, “यह राज्यसभा नहीं वरन् राज्य विधानमण्डलों के राजनीतिक दलों की एक सभा है।” ऐसी स्थिति में राज्यसभा के गठन का विशेष उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

द्वितीय, राज्यसभा के अधिकांश सदस्य अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर अपना पद ग्रहण करते हुए और इस बात का बहुत अधिक डर रहता है कि किन्हीं व्यक्तियों द्वारा धन की शक्ति या अन्य भ्रष्ट साधनों के आधार पर राज्यसभा का चुनाव जीत लिया जाएगा। व्यवहार में ऐसी कुछ घटनाएं प्रकाश में भी आई हैं।

तृतीय, राज्यसभा के सदस्यों को राज्य विधानसभाओं द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के आधार पर निर्वाचित किया जाता है। इस सम्बन्ध के दोष यह है कि भारतीय संघ के कुछ राज्यों की विधानसभाओं में क्षेत्रीय दलों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते हैं, जिसे राष्ट्रीय हित में नहीं कहा जा सकता।

चतुर्थ, राज्यसभा के 12 सदस्यों को राष्ट्रपति के द्वारा मनोनीत किया जाता है और मनोनयन की यह प्रणाली नितान्त अप्रजातान्त्रिक है। कार्यपालिका के द्वारा अपनी इस शक्ति का कई बार दुरुपयोग किया गया।

पंचम, व्यवहार के अन्तर्गत राज्यसभा का प्रयोग एक राजनीतिक शरण-गृह के रूप में किया गया है। राज्यसभा में प्रायः ऐसे लोगों को स्थान दिया जाता है जो प्रत्यक्ष चुनाव से दूर भागते हैं उन्हें प्रत्यक्ष चुनाव में जनता द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है। इस प्रकार राजनीतिक दलों, विशेषरूप से सत्तारूढ़ पक्ष द्वारा अवकाश प्राप्त, अयोग्य तथा विशेष गुटों के प्रतिनिधियों को इस सभा में स्थान देकर राज्यसभा को केवल अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति का साधना बना लिया जाता है।

2. शक्ति सम्बन्धी आलोचनाएं(**Criticisms regarding Power**)— संविधान के द्वारा राज्यसभा को जो अधिकार एवं शक्तियों प्रदान की गई हैं, उसके आधार पर इसे एक निरर्थक तथा अनुपयोगी सन कहा जाता है। सहीरूप में राज्यसभा की स्थिति यह है कि यह साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में 6 महीने तथा वित्त विधेयक के सम्बन्ध में 14 दिन की देरी लगा सकती है। यह मन्त्रिमण्डल को नाममात्र के लिए प्रभावित कर सकती है, क्योंकि इसे मन्त्रिपरिषद् को पदच्युत करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। इसके द्वारा जिन अन्य कार्यों को किया गया है जैसे राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेना, राज्य सूची के विषयों को राष्ट्रीय महत्व का घोषित करना या अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था के लिए प्रस्ताव पारित करना, उनके सम्बन्ध में आलोचकों का कहना है कि यह कार्य संविधान द्वारा स्थापित अन्य किन्हीं भी संस्थाओं या अधिकारियों को सौंपे जा सकते हैं। केवल इन कार्यों को करने के लिए राज्यसभा के अस्तित्व का कोई औचित्य नहीं है। आलोचकों के अनुसार राज्यसभा को वित्तीय ओर वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में देर लगाने की जो शक्ति प्राप्त है वह हानिकारक सिद्ध हुई है और विशेष परिस्थितियों में बहुत अधिक हानिकारक

सिद्ध हो सकती है। तृतीय, आलोचकों के अनुसार लोकसभा की कार्यविधि और गठन इस प्रकार का है कि इसके द्वारा कानून निर्माण में न तो अनावश्यक जल्दबाजी को अपनाया जा सकता है और न ही निरंकुशता को। अतः लोकसभा पर थोड़ा या अधिक अंकुश रखने के लिए राज्यसभा का कोई औचित्य नहीं है।

व्यवहार में लोकसभा तथा राज्यसभा में सम्बन्ध

राज्यसभा के विरुद्ध एक अतिरिक्त तर्क यह है कि व्यवहार के अन्तर्गत अनेक बार लोकसभा और राज्यसभा में आपसी विरोध की स्थिति उत्पन्न होती रही है। मोरिस जान्स लिखते हैं कि “संस्थाओं का यह स्वभाव होता है कि वे निष्ठाओं को जन्म देती हैं और जब दो संस्थाओं की स्थिति प्रायः समान होती है तो उनमें मतभेदों का उत्पन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है।”

सर्वप्रथम इस प्रकार की स्थिति 1953 में उत्पन्न हुई, जब राज्यसभा ने अपने सदस्य और विधि मन्त्री श्री विश्वास को निर्देश दिया कि वे लोकसभा में उपस्थिति न हों। द्वितीय घटना भी 1953 में ही घटी, जबकि राज्यसभा ने एक प्रस्ताव पास कर मांग की थी या तो राज्यसभा की अलग लोक लेखा समिति होनी चाहिए या वर्तमान लोक लेखा समिति में राज्य सभा के भी सदस्यों को प्रतिनिधित्व देकर इसे लोकसभा की ‘लोकलेखा समिति’ के स्थान पर संसद की लोक लेखा समिति’ कारूप दिया जाना चाहिए। लोकसभा ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए इसे असंवैधानिक बताया। अन्त में पं. नेहरू ने हस्तक्षेप कर इस व्यवस्था को अपनाया कि लोक लेखा समिति तो लोकसभा की ही समिति रहेगी, लेकिन इस समिति को सहयोग देने के लिए राज्यसभा अपने 7 सदस्यों को नामांकित करेगी। 1954 में जब लोकसभा के सदस्य श्री एन. सी. चटर्जी ने राज्यसभा को ‘उत्तरदायी आचरण का दोषी’ बतलाया और 1963 में जब श्री एच. बी. कामथ ने राज्यसभा की तुलना ‘ब्रिटिश लॉर्ड सभा’ से की, तब भी ऐसी ही स्थितियां उत्पन्न हो गईं।

राज्यसभा अपनी स्थिति के प्रति कुछ आवश्यकता से अधिक ही सजग रही है और कभी-कभी इसने लोकसभा के कार्यों में अनुचितरूप में बाधा डाली है। इस प्रकार की एक स्थिति 1970 में देखी गई है कि जबकि राज्यसभा ने लोकसभा द्वारा पारित प्रिवीवर्स समाप्ति का संविधान विधेयक अस्वीकार कर दिया। ऐसी स्थिति में अनेक सदस्यों ने राज्यसभा को ‘आर्थिक और सामाजिक प्रगति में बाधक’ बतलाते हुए इसे समाप्त करने की मांग की। मार्च 1973 में कांग्रेस के वरिष्ठ सदस्य विभूति मिश्रा ने एक गैर-सरकारी प्रस्ताव रखा, जिसमें मांग की गई कि संवैधानिक संशोधन के आधार पर राज्यसभा को समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

सन् 1977-79 के वर्षों में लोकसभा और राज्यसभा की दलीय संरचना में भेद रहा और इस स्थिति ने इन दोनों सदनों के बीच विरोध की घटनाओं को जन्म दिया। सर्वप्रथम राज्यसभा ने बैंकिंग सेवा आयोग विधेयक के सम्बन्ध में लोकसभा के विचार का विरोध किया और 1977-78 के वार्षिक बजट में भी संशोधन किए, लेकिन इन दोनों बातों के सम्बन्ध में राज्यसभा का विचार स्वीकार नहीं हुआ। इसके बाद में लोकसभा 45वां संशोधन विधेयक पारित कर राज्यसभा में भेजा, तब राज्यसभा ने इस विधेयक को संशोधनों सहित पारित किया और लोकसभा को राज्यसभा द्वारा किए गए ये संशोधन स्वीकार करने पड़े। इसी प्रकार, ‘विशेष अदालत विधेयक’ में भी राज्यसभा के द्वारा जो संशोधन किए गए, लोकसभा ने उन्हें स्वीकार कर लिया।

फरवरी 1980 में भारत के संसदीय इतिहास में पहली बार राज्यसभा ने ‘राष्ट्रपतिके अभिभाषण पर धन्यवाद प्रस्ताव’ में ऐसे वाक्य जुड़वाए, जो नई सरकार की आलोचना करते हैं। 75 के मुकाबले 80 के बहुमत से जोड़े गए ये वाक्य हैं: “लेकिन खेद है कि अभिभाषण में गैर-कांग्रेसी शासन वाली राज्य विधानसभाओं में दल-बदल की चिन्तापूर्ण कोशिशों को कोई उल्लेख नहीं है। न ही उसमें संघीय सिद्धांतों की घोर उपेक्षा करते हुए मनमाने ढंग से राज्य विधानसभाएं कोशिशों पर ही चिन्ता प्रकट की गई है। अभिभाषण यह आश्वासन भी नहीं देता कि सरकार संविधान को तोड़ने-मरोड़ने और लोकतंत्रीय सिद्धांतों तथा आधार का उल्लंघन करने वाली इन कोशिशों का

प्रोत्साहन नहीं देगी।” इन संशोधनों का महत्व इतना ही है कि ये वाक्यांश संसदीय कार्यवाही में दर्ज हो गए, पर राजनीतिक दृष्टि से यह राज्यसभा के स्वतंत्र चरित्र को उजागर करते हैं और राजनीतिक स्थिति में हुए भारी परिवर्तन के बावजूद शक्ति सन्तुलन बनाए रखने की चेष्टा का परिचय देते हैं।

लोकसभा और राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल तथा दोनों सदनों के सदस्यों के चुनाव की पद्धतियों का जा भेद है उसके कारण भविष्य में भी इन सदनों की दलीय संरचना में भेद हो सकता है और इसके कारण दोनों सदनों में आपसी विरोध की स्थितियां पैदा हो सकती हैं।

राज्यसभा का महत्व और औचित्य

इस प्रकार की आलोचनाओं और कभी-कभी लोकसभा और राज्यसभा में पारस्परिक विरोध की घटनाओं के बावजूद राज्यसभा का अस्तित्व पर्याप्त उपयोगी और लाभदायक रहा है। यदि यह ‘देवताओं का सदन’ नहीं बन पाई तो दूसरी ओर इसने अपने आपको ‘दुष्टों और प्रतिक्रियावादियों का सदन’ भी नहीं बनने दिया है। राज्यसभा का महत्व और औचित्य पूर्णतया स्पष्ट है। प्रथम, राज्यसभा को संविधान के संशोधन के विषय में लोकसभा के समान शक्ति प्राप्त है। द्वितीय, राज्यसभा में से भी मन्त्रियों की नियुक्तियां की जाती हैं। 1966 में जब श्रीमती गांधी प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त हुईं, उस समय वे राज्यसभा की ही सदस्य थीं, 1996 में प्रधानमंत्री मनोनीत होने के बाद एच. डी. देवगौड़ा राज्यसभा के ही सदस्य बने तथा जब अप्रैल, 1997 में इन्द्रकुमार गुजराल का प्रधानमंत्री पद पर मनोनयन हुआ तो वे उस समय राज्यसभा के ही सदस्य थे। तृतीय, इस परम्परा से भी राज्यसभा के महत्व का आभास होता है कि केन्द्रीय मंत्री प्रायः राज्यसभा में उपस्थित रहते हैं और विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद में भाग लेते हैं। इस प्रकार राज्यसभा सरकारी नीतियों तथा कार्यों पर प्रभाव डालने में समर्थ है और व्यवहार में अनेक बार इसने शासन की नीतियों तथा कार्यों को प्रभावित किया है। राज्यसभा उन सभी कार्यों को करती है जो रम्परागतरूप में द्वितीय सदन के द्वारा किए जाते हैं और भारत जैसे विशाल और सघातक व्यवस्था वाले देश के लिए संघात्मक व्यवस्थापिका का द्विसदनात्मक होना नितान्त स्वाभाविक और आवश्यक है। सामान्यतया राज्यसभा का कार्यकाल सफल रहा है और इसके अस्तित्व के औचित्य पर भी कोई सन्देह नहीं किया जाता है। प्रो. जितेन्द्र रंजन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि “यह न तो अमरीकी सीनेट की भांति अत्यधिक शक्तिशाली है और न ही ब्रिटिश लॉर्ड सभा या फ्रांस के चतुर्थ गणतन्त्र की गणतंत्रीय परिषद की भांति अत्यधिक दुर्बल। जापानी व्यवस्था की तरह द्वितीय सदन की निषेधात्मक शक्ति (Veto Power) को हमारे संविधान में स्वीकार नहीं किया गया है। इसे सिर्फ दुहराने की पर्याप्त शक्ति दी गई है, निषेध की नहीं। राज्यसभा न केवल रचना की दृष्टि से विश्व का सबसे अधिक श्रेष्ठ द्वितीय सदन है, वरन् यह आधुनिक प्रजातंत्र के योग्य तथा द्वितीय सदन के उद्देश्यों की पूर्ति करने की दृष्टि से भी सर्वाधिक सन्तुलित द्वितीय सदन है।”

आवश्यकता इस बात की है कि राज्यसभा के द्वारा अपने आपको लोकसभा का सहायक और सहयोगी समझा जाए, प्रतिद्वन्द्वी नहीं। पं. नेहरू ने 6 मई, 1953 को राज्यसभा में बिल्कुल ठीक ही कहा था कि “दोनों सदनों के द्वारा परस्पर सहयोग के आधार पर कार्य किया जाना चाहिए क्योंकि इन दोनों में से कोई एक नहीं, वरन् दोनों एक साथ मिलकर ही भारत की संसद का निर्माण करते हैं और भारतीय संसद के रूप में जाने जाते हैं।”

लोकसभा

(House of the People)

संघीय संसद के निम्न सदन या लोकप्रिय सदन को लोकसभा का नाम दिया गया है। लोकसभा की सदस्य संख्या समय-समय पर परिवर्तित होती रही है। संविधान में उपबन्ध है कि लोकसभा के 530 से अधिक सदस्य राज्यों में

प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष रीति से चुने जाएंगे और 20 से अत्यधिक सदस्य संघ राज्य क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करेंगे जिनका निर्वाचन ऐसी रीति से होगा जैसे संसद विधि द्वारा उपबन्ध करे। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति आंग्ला-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व करने के लिए दो से अधिक सदस्य मनोनीत कर सकता है। इस प्रकार सदन की अधिकतम सदस्य संख्या 552 हो, ऐसी संविधान में परिकल्पना की गई है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 82 में यह भी व्यवस्था है कि प्रत्येक जनगणना के अनुसार, 'परिसीमन आयोग' (Delimitation Commission) संसद के आदेशानुसार विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व में आवश्यक परिवर्तन करेगा। निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन निर्वाचन आयोग की देखरेख ओर संसद की अंतिम स्वीकृति के अधीन किया जाता है। 1971 की जनगणना के आधार पर परिसीमन आयोग के द्वारा अगली लोकसभा की सदस्य संख्या के सम्बन्ध में निर्णय लिए गए हैं। 42 वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार अनुच्छेद 82 में संशोधन करते हुए व्यवस्था की गई है लोकसभा और राज्यविधानसभाओं में सदस्यों की संख्या 2001 तक वही रहेगी जो 1971 की जनगणना के आधार पर निर्धारित की गई है। यह व्यवस्था 'राष्ट्रीय जनसंख्या नीति' के आधार पर की गई है जिससे किन्हीं राज्यों को जनसंख्या में वृद्धि के आधार पर लोकसभा या विधानसभाओं में अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो सके। वर्तमान समय में विभिन्न राज्यों और केन्द्रशासित क्षेत्रों को लोकसभा में प्राप्त प्रतिनिधित्व तथा भविष्य के सम्बन्ध में किए गए निर्णयों को पृष्ठ 322 पर दी गयी तालिका के आधार पर समझा जा सकता है। लोकसभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्षरूप से जनता द्वारा जाता है। भारत में 18 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्ति को वयस्क माना गया है। अब लोकसभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र 'एकल सदस्यीय' (Single Member Constituencies) रखे गए हैं। ये निर्वाचित क्षेत्र इस प्रकार निर्धारित किए जाएंगे कि लोकसभा का एक सदस्य कम-से-कम 5 लाख जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करे। इस सम्बन्ध में अधिकतम सीमा बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार निर्धारित की जाती रहेगी। मूल संविधान में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों हेतु 10 वर्ष की अवधि के लिए स्थान सुरक्षित रखने थे, किन्तु बाद में यह अवधि बढ़ा दी। संविधान के 79वें संशोधन द्वारा अब आरक्षण 25 जनवरी 2010 तक के लिए कर दिया गया है।

संविधान के अनुच्छेद 81 में उल्लेख है कि "प्रतिनिधित्व का अनुपात यथासंभव समस्त देश में समान रखने का प्रयत्न किया जाएगा।" लेकिन यह बात उन राज्यों तथा केन्द्रशासित क्षेत्रों पर लागू नहीं होगी जिनकी जनसंख्या 60 लाख से कम है। इसी प्रकार अनुच्छेद 330 द्वारा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजाति के क्षेत्रों के लिए स्थानों के आरक्षण (Reservation) के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गई है, वह नागालैण्ड पर लागू नहीं है, क्योंकि 1971 की जनगणना के अनुसार नागालैण्ड की 88.6 प्रतिशत जनसंख्या जनजाति क्षेत्र से सम्बन्ध है। 31वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार यह व्यवस्था असम के जनजाति क्षेत्रों, नागालैण्ड, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम क्षेत्र पर भी लागू न होगी।

निर्वाचक तथा सदस्यों की योग्यता(Electors and Qualification for the Members)— लोकसभा के चुनाव में उन सभी सदस्यों को मतदान का अधिकार होगा जो भारत के नागरिक हैं, जिनकी आयु 18 वर्ष या अधिक है, जो पागल और दिवालिया नहीं है और जिन्हें संसद के कानून द्वारा किसी अपराध, भ्रष्टाचार या गैर कानूनी व्यवहार के कारण मतदान से वंचित नहीं कर दिया गया है।

लोकसभा की सदस्यता के लिए संविधान के अनुसार निम्नलिखित योग्यताएं होनी आवश्यक हैं:

1. वह व्यक्ति भारत का नागरिक हो,
2. उसकी आयु 25 वर्ष या इससे अधिक हो,

3. भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत वह कोई लाभ का पद धारण न किए हुए हो,
4. वह किसी न्यायालय द्वारा पागल न ठहराया गया हो तथा पागल न हो।

इन योग्यताओं के अतिरिक्त अन्य योग्यताएं निर्धारित करने का अधिकार संविधान के द्वारा संसद को दिया गया है इस अधिकार के अन्तर्गत संसद ने 1951 में 'जनप्रतिनिधित्व अधिनियम' (People Representation Act) पास कर संसद के सदस्यों के लिए निम्न योग्यताएं निश्चित की हैं:

- (1) अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित सुरक्षित स्थानों के उम्मीदवारों के लिए आवश्यक है कि वे अनुसूचित जाति के सदस्य हों। इसी प्रकार जनजाति से सम्बन्धित सुरक्षित स्थानों के उम्मीदवारों के लिए आवश्यक है कि वे जनजाति के सदस्य हों। ये व्यक्ति समस्त भारतीय क्षेत्र में किसी भी स्थान से अनुसूचित जाति या जनजाति के सदस्य हो सकते हैं।
- (2) असम की जनजातियों के लिए सुरक्षित स्थान के उम्मीदवार बनने हेतु उसी जनजाति का होना और उस संसदीय निर्वाचन क्षेत्र या उसे जिले के किसी अन्य निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना आवश्यक है।
- (3) अन्य किसी स्थान से उम्मीदवार होने के लिए भारत में किसी भी संसदीय निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना आवश्यक है अर्थात् किसी निर्वाचन क्षेत्र से उसका नाम मतदाता सूची में होना चाहिए।
- (4) निर्वाचन सम्बन्धी अपराध के लिए दोषी पाए गए व्यक्ति को निर्वाचन आयोग द्वारा एक निश्चित समय अथवा जीवन भर के लिए संसद का चुनाव लड़ने के लिए अयोग्य घोषित किया जा सकता है।
- (5) उसने किसी अपराध के लिए दो वर्ष से अधिक सजा न पाई हो और उसे जेल से छूटे हुए पांच वर्ष से अधिक हो गए हों।
- (6) उसे सरकार से सम्बन्धित किसी ठेके में हिस्सेदार नहीं होना चाहिए और न सरकार से सम्बन्धित किसी कारखाने में उसका हित होना चाहिए।
- (8) उसे बेईमानी या राजद्रोही के कारण सरकारी नौकरी से न निकाला गया हो। इस प्रकार से अपराध के 5 वर्ष बाद ही वह संसद की सदस्यता प्राप्त कर सकता है।

कार्यकाल (Term)— 42वें संवैधानिक संशोधन (1976) के पूर्व तक लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष था, लेकिन इस संवैधानिक संशोधन द्वारा लोकसभा का कार्यकाल बढ़ाकर 6 वर्ष कर दिया गया। अब 44वें संवैधानिक संशोधन (1978) द्वारा पुनः यह 5 वर्ष कर दिया गया है। प्रधानमंत्री के परामर्श के आधार पर राष्ट्रपति के द्वारा लोकसभा को समय के पूर्व भी भंग किया जा सकता है। ऐसा अब तक सात बार 1970, 1977, 1979, 1984, 1990, 1997 और 1999 में किया गया है। संकट-काल की घोषणा लागू होने पर संसद विधि द्वारा लोकसभा के कार्यकाल में वृद्धि कर सकती है, जा एक बार में एक वर्ष से अधिक न होगी।

लोकसभा के अधिवेशन राष्ट्रपति के द्वारा ही बुलाए और स्थागित किए जाते हैं और इस सम्बन्ध में नियम यह है कि लोकसभा की बैठक की अन्तिम तिथि ओर दूसरी बैठक की प्रथम तिथि में 6 माह से अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। लोकसभा और राज्यसभा दोनों की गणपूर्ति (Quorum) कुल संख्या का दसवां भाग है।

लोकसभा के चुनाव के लिए मतदान, गठन, पहली बैठक, कार्यकाल पूरा होने तथा उसके विघटन की तारीखों का विवरण (पहली से तेहरवीं लोकसभा तक)

लोकसभा तारीख	मतदान की अन्तिम तारीख	गठन की तारीख	पहली बैठक	कार्यकाल पूरा की तारीख	भंग होने की होने की तारीख (संविधान के अनुच्छेद 93 (2))
1	2	3	4	5	6
पहली	21-02-52	02-04-52	13-05-52	12-05-57	04-04-57
दूसरी	15-03-57	05-04-57	10-05-57	09-05-62	31-03-62
तीसरी	25-02-62	02-04-62	16-04-62	15-04-67	03-03-67
चौथी	21-02-67	04-03-67	16-03-67	15-03-72	27-12-70
पांचवी	10-03-71	15-03-71	19-03-71	18-03-77	18-01-77
छठी	20-03-77	15-03-71	19-03-71	18-03-77	18-01-77
सातवीं	06-01-80	10-01-80	12-01-80	20-01-85	31-12-84
आठवीं	28-12-84	31-12-84	15-01-85	14-01-90	27-11-89
नौवीं	26-11-89	02-12-89	18-12-89	17-12-94	13-03-91
दसवीं	15-06-91	20-06-91	09-07-91	08-07-96	10-05-96
ग्याहरवीं	07-05-96	15-05-96	22-05-96	21-05-2001	04-12-97
बाहरवीं	07-03-98	10-03-98	23-03-98	22-03-2003	26-04-99
तेरहवीं	04-10-99	10-10-99	20-10-99	19-10-2004	

1. मध्यावधि चुनाव कराए, चुनावों से पहले ही लोक सभा भंग कर दी गई थी।
2. कालम (2) में दी गई मतदान की अन्तिम तारीखें निर्वाचन आयोग की रिपोर्ट पर आधारित हैं।

1.3.6 संसद सदस्यों के विशेषाधिकार (Privileges of the Memembrs of the Parilament)

संसद सदस्यों को कतिपय विशेषाधिकार प्राप्त हैं। संसदीय विशेषाधिकारों का उद्देश्य संसद की स्वतंत्रता, अधिकार और गरिमा की रक्षा करना है। ये ऐसे विशेषाधिकार हैं जिनके बिना संसद-सदस्य अपने कृत्यों का निर्वहन नहीं कर सकते। संविधान के अनुच्छेद 105 में संसद के सदनों तथा उनके सदस्यों के विशेषाधिकारों एवं उन्मुक्ता का उल्लेख किया गया है। इस अनुच्छेद के खण्ड (3) में उपबन्ध किया गया है कि "संसद के प्रत्येक दिन और उन सदस्यों तथा समितियों की शक्तियां, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियां वहीं होंगी जो कि "संसद के प्रत्येक दिन और उन सदस्यों तथा समितियों की शक्तियां, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियां वही होंगी जो कि संसद समय-समय पर कानून बनाकर परिभाषित करे और जब तक ऐसी परिभाषा नहीं की जाती ये वैसी की होंगी जैसी कि इस संविधान के प्रारम्भ अर्थात् 26 जनवरी, 1950 को ब्रिटेन की संसद के 'हाउस ऑफ कॉमन्स', उसके सदस्यों तथा समितियों की थी।" अभी तक इन विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में संसद ने कोई व्यापक कानून नहीं बनाया है। अतः ऐसे किसी कानून के अभाव में संसद-सदस्यों को वे ही विशेषाधिकार प्राप्त हैं जो कि ब्रिटेन के संसद सदस्यों को प्राप्त हैं। 23 मार्च, 1967 को लोकसभा अध्यक्ष ने कहा कि "संसद के विशेषाधिकारों की परिभाषा करने के लिए कानून बनाया जाए तो वह अच्छी बात है।" संसदीय कार्यमंत्री ने भी कहा है कि "विशेषाधिकारों की परिभाषा करने

का प्रश्न विचारधीन है।" संविधान के अनुच्छेद 105 में संसद के सदनों तथा संसद सदस्यों के विशेषाधिकारों का उल्लेख किया गया है। ये विशेषाधिकार इस प्रकार हैं:

- (1) संसद में या उसकी समिति में कही हुई किसी बात या दिए गए मत के आधार पर किसी भी न्यायालय की कार्यवाही से उन्मुक्ति
- (2) न्यायालय को संसद की कार्यवाही की जांच करने का निषेध।
- (3) सभा के क्षेत्र के दौरान तथा उसके चालीस दिन पहले और चालीस दिन बाद तक दीवानी मामलों में सदस्यों की गिरफ्तारी से उन्मुक्ति।
- (4) किसी सदस्यों की गिरफ्तारी, विरोध, कारावास तथा रिहाई के सम्बन्ध में तुरन्त सूचना प्राप्त करने का सदन को अधिकार है।
- (5) सदन के सदस्यों को विचार-अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता होगी।
- (6) संसद-सदस्यों को जूरी सदस्यों के रूप में नियुक्त नहीं किया जा सकता।
- (7) जब सदन गोपनीय बैठक के लिए बैठता है तो उस समय कोई भी व्यक्ति, जो सदन का सदस्य नहीं है, सभाकक्षों और दीर्घाओं, इत्यादि में नहीं रह सकता।

प्रत्येक सदन स्वयं अपने विशेषाधिकारों का रक्षक है। न केवल यह किसी ऐसे विषय का एकमात्र निर्णायक है। जो किसी प्रकार विशेषाधिकार का भंग करता हो बल्कि यदि यह उचित समझे तो किसी भी ऐसे व्यक्ति को कारावास का दण्ड दे सकता है या उसकी भर्त्सना कर सकता है, जिसे वह अपमान का दोषी समझता हो। सभा की किसी ऐसे व्यक्ति को दण्ड देने की शक्ति जो सभा का अपमान करे या उसके किसी विशेषाधिकार को भंग करे सबसे महत्वपूर्ण विशेषाधिकार है। इसी शक्ति के कारण संसद के विशेषाधिकार वास्तविक बनाते हैं।

सांसदों का वेतन एवं सुविधाएं— संसद सदस्यों को वेतन और भत्ता संसदीय नियमों के अनुसार प्राप्त होगा। वर्तमान समय में सांसदों का वेतन 12,000 रु० प्रतिमास, तथा 500 रु० प्रतिदिन दैनिक भत्ता है। इसके अतिरिक्त अन्य सुविधाएं और भत्ते इस प्रकार हैं: 10,000 रु० प्रतिमाह की दर से निर्वाचन क्षेत्र भत्ता और 14,0000 प्रतिमाह की दर से कार्यालय व्यय भत्ता इसमें 3,000 लेखन सामग्री, आदि खर्च के लिए होंगे। इसके अलावा, हर सांसद को दो टेलीफोन सेट (एक दिल्ली और एक अपने संसदीय क्षेत्र के लिए) मुफ्त मिलते हैं जिस पर वह सालाना 1 लाख 20 लाख हजार की मुफ्त कॉल कर सकता है। इसी तरह वर्षभर मिलने वाली मुफ्त बिजली को 50,000 यूनिट कर दिया गया है। हर सांसद को अपनी पत्नी अथवा किसी भी एक व्यक्ति के साथ देश में कहीं भी वातानुकूलित प्रथम श्रेणी की मुफ्त रेल यात्रा करने की सुविधा प्राप्त है। उसे देश के भीतर मुफ्त हवाई यात्रा की भी सुविधा हासिल है। साल में उसे हवाई जहाज के टिकट मुफ्त मिलते हैं।

लोकसभा के अध्यक्ष का पद

(Office of the Speaker)

अध्यक्ष का पद संसदीय शासन-प्रणाली में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विश्व में जहां पर भी संसदीय पद्धति की सरकार है, वहां संसद के निम्न सदन के स्पीकर को विशेष महत्व और दर्जा प्राप्त होता है। संविधान, अध्यक्ष का निर्वाचन लोकसभा स्वयं करती है।

अध्यक्ष का कार्यकाल— अध्यक्ष निर्वाचन के समय से लेकर, उसे लोकसभा के विघटन के बाद अगली लोकसभा की पहली बैठक से फौरन पहले तक अपने पद पर रहता है। वह दुबारा चुना जा सकता है। अध्यक्ष यदि

लोकसभा सदस्य न रहे तो उसे अपना पद छोड़ना पड़ता है। लोकसभा के विघटन पर, यद्यपि अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष दोनों लोकसभा के सदस्य नहीं रहते, केवल उपाध्यक्ष ही अपना पद छोड़ता है। जब भी अध्यक्ष का पद रिक्त हो जाता है, इस सम्बन्ध में एक अधिसूचना बजट में प्रकाशित की जाती है। अध्यक्ष को अपने सारे कार्यकाल में अपने पद के कृत्यों का निर्वहन करना पड़ता है। स्थान से अनुपस्थिति होने या बीमारी की दशा में वह अपने काम उपाध्यक्ष को नहीं सौंप सकता। अध्यक्ष किसी भी समय उपाध्यक्ष को पत्र लिखकर अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है।

अध्यक्ष का हटाया जाना—अध्यक्ष को लोकसभा में, उसके उस समय के सदस्यों के बहुमत से संकल्प पास करके, उनके पद से हटाया जा सकता है। ऐसे संकल्प को प्रस्तावित करने के लिए कम-से-कम चौदह दिन की सूचना देनी पड़ती है। चौदह दिन का हिसाब लगाते समय प्रारम्भ और अन्त के दोनों दिन छोड़ दिए जाते हैं। जो सदस्य अध्यक्ष को पदच्युत करने के संकल्प की सूचना देना चाहे उसे यह सूचना लिखितरूप में सचिव को देनी पड़ती है। लोकसभा की बैठक में, जब अध्यक्ष को पदच्युत करने के संकल्प पर विचार हो रहा हो तो वह सभा की अध्यक्षता नहीं करेगा।

अध्यक्ष द्वारा शपथ ग्रहण—अध्यक्ष को अपना पद संभालने पर शपथ नहीं लेने पड़ती और न ही प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। वह लोकसभा के सदस्य के नाते ही शपथ ग्रहण करता है।

अध्यक्ष की शक्तियाँ और कृत्य—लोकसभा का सबसे शक्तिशालीरूढ़िगत और औपचारिक प्रधान लोकसभा का अध्यक्ष है। सभा में उसका प्राधिकार सर्वोच्च है। यह प्राधिकार अध्यक्ष की अन्नय निष्पक्षता पर आधारित है। उसकी शक्तियों तथा उसके कर्तव्यों का उल्लेख नियमों में तथा कुछ हद तक संविधान में किया गया है। जिन नियमों के अनुसार उसे अपना काम करना होता है, वे नम्य हैं और कुछ मामलों में उसे अपने विवेक से काम लेना पड़ता है। उसके कर्तव्य बड़े कठिन हैं, जो इस प्रकार हैं:

- (1) जहां तक संसद के दोनों सदनों के परस्पर सम्बन्धों का प्रश्न है, उनमें कुछ मामलों में संविधान ने अध्यक्ष को विशेष स्थिति प्रदान की है। यह निर्णय अध्यक्ष ही करता है कि कौन से विषय 'धन' सम्बन्धी विषय हैं क्योंकि वे लोकसभा के अन्नय अधिकार-क्षेत्र में आते हैं। यदि अध्यक्ष किसी विधेयक के सम्बन्ध में यह प्रमाण-पत्र दे दे कि धन-विधेयक है तो उसका निर्णय अन्तिम होगा।
- (2) जब भी दोनों सदनों के बीच किसी विधान के सम्बन्ध में मतभेद होने पर संयुक्त बैठक बुलाई जाती है तो उसकी अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है और बैठक के सम्बन्ध में प्रक्रिया नियम उसके निर्देशों तथा आदेशों के अन्तर्गत लागू होते हैं।
- (3) जब किसी प्रश्न के पक्ष और विपक्ष में बराबर-बराबर मत आते हैं तो स्पीकर निर्णायक मत देता है।
- (4) संविधान के अनुसार उसे लोकसभा की बैठक स्थागित करने या गणपूर्ति न होने की दशा में बैठक निलम्बित करने की भी शक्ति प्राप्त है।
- (5) उसे यह शक्ति प्राप्त है कि वह अपने विवेक से किसी ऐसे सदस्य को अपनी मातृभाषा में बोलने की अनुमति दे जो अपने विचार हिन्दी या अंग्रेजी में भलीभांति व्यक्त नहीं कर सकता।
- (6) कार्य की स्थिति को ध्यान में रखते हुए अध्यक्ष सभा की बैठक के प्रारम्भ तथा समाप्त होने का समय नियुक्त करता है और निर्णय करता है कि सभा की बैठक किस-किस दिन होगी। वह यह भी निर्णय करता है कि किस समय सभा की बैठक अनिश्चित काल के लिए या किसी अन्य दिन, या उस दिन के किसी समय तक के लिए स्थगित की जाती है।

- (7) सदन के नेता से परामर्श करके वह सरकारी कार्य का क्रम निर्धारित करता है और यदि उसका समाधान हो जाए कि उस क्रम में परिवर्तन करने का समुचित आधार है तो उसे वह बदल सकता है।
- (8) अध्यक्ष को लोकसभा में दलों तथा समूहों को मान्यता देने की भी शक्ति प्राप्त है।
- (9) वह लोकसभा की कार्यवाही का संचालन करता है।
- (10) लोकसभा की गुप्त बैठकों में अध्यक्ष ही यह निर्णय करता है कि कार्यवाही का वृत्तान्त कैसे तैयार किया जाए और ऐसे अवसरों पर किस प्रक्रिया का पालन किया जाए।
- (11) लोकसभा में व्यवस्था बनाए रखना अध्यक्ष की जिम्मदारी है और वह सदस्यों से नियमों का पालन करवाता है। कौल तथा शकधर के अनुसार, "सभा में व्यवस्था बनाए रखना अध्यक्ष का मूल कर्तव्य है। उसकी अनुशासनात्मक शक्तियों का उद्गम सभा नियम हैं और अनुशासन सम्बन्धी मामलों में उनके निर्णय को सिवाय मुख्य प्रस्ताव के माध्यम से और किसी प्रकार की चुनौती नहीं दी जा सकती।" अध्यक्ष किसी सदस्य के भाषण की असंगत बातों या उसमें दोहराई जाने वाली बातों को रोक सकता है। जब कोई सदस्य किसी के लिए कोई अनुचित या अपमानजनक बात कहे तो अध्यक्ष उसे रोक सकता है और उससे कह सकता है कि या तो अपने शब्द वापस ले या उनके लिए खेद प्रकट करे। अध्यक्ष अपने स्वविवेक का प्रयोग करके वाद-विवाद में प्रयुक्त अपमानजनक या अश्लील शब्दों या किसी ऐसे सदस्य द्वारा कही गई किसी बात को कार्यवाही के वृत्तान्त से निकाल सकता है, जिसे बोलने के लिए अनुमति न दी गई हो। जो सदस्य उच्छृंखल व्यवहार का दोषी हो उसे अध्यक्ष सभा का त्याग करने के लिए कह सकता है। यदि कोई सदस्य अध्यक्ष के अधिकार की अवहेलना करे और लगातार सभा की कार्यवाही में बाधा डालता रहे तो अध्यक्ष उसका नाम लेकर उसे सभा से निलम्बित कर सकता है। यदि लोकसभा में शोरगुल और अव्यवस्था हो तो वह सभा को स्थगित कर सकता है या उसका कार्य निलम्बित कर सकता है।
- (12) वह अध्यक्ष ही तय करता है कि कब किस सदस्य को बोलने का अवसर दिया जाये और उसे कितनी देर बोलने दिया जाये। जब भी आवश्यक हो वह भाषण की समय सीमा निर्धारित कर सकता है।
- (13) वह सभा के विचार के लिए प्रस्ताव प्रस्तावित करता है और उन प्रस्तावों को सत्ता के निर्णय के लिए उसके सामने रखता है। सदस्य जो व्यवस्था का प्रश्न उठाते हैं, उन पर अध्यक्ष ही अपना निर्णय देता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है।
- (14) अध्यक्ष संकल्पों तथा प्रस्तावों की ग्राह्यता का निर्णय करता है। प्रश्नों की ग्राहणता के समान उसे संकल्पों तथा प्रस्तावों को स्वीकार करने के सम्बन्ध में भी सामान्यरूप से विवेकाधिकार है। वह यह निर्णय करता है कि मन्त्रिपरिषद् पर अविश्वास का प्रस्ताव नियमानुकूल है या नहीं और कटौती प्रस्ताव अर्थात् अनुदानों की मांग में कटौती करने का प्रस्ताव वियमों के अन्तर्गत ग्राह्य है या नहीं
- (15) अध्यक्ष को यह शक्ति प्राप्त है कि वह विधेयकों तथा संकल्पों के सम्बन्ध में रखे गए संशोधन में से कुछ को सभा के सामने पेश करने के लिए चुन सकता है और किसी भी ऐसे संशोधन को सभा के सामने रखने से इन्कार कर सकता है जो उसके विचार में तुच्छ हो।
- (16) लोकसभा में याचिकाएं पेश करने के लिए अध्यक्ष की स्वीकृति आवश्यक है।
- (17) लोकसभा के नेता के परामर्श से वह बजट, विनियोग विधेयक और वित्त विधेयक पर सभा द्वारा विचार के लिए दिन और समय नियत करता है।

- (18) उसकी सहमति के बिना किसी सदस्य, सभा या उसकी सहमति के विशेषाधिकार भंग के सम्बन्ध में कोई प्रश्न सभा में नहीं उठाया जा सकता।
- (19) सभी संसदीय समितियों पर अध्यक्ष का सर्वोच्च नियन्त्रण है। वह उनके सभापतियों की नियुक्ति करता है और उनके काम के संगठन या उनके द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में ऐसे निर्देश दे सकता है जो वह आवश्यक समझे। वह उनके साथ समय-समय कर परामर्श करता है और उनका मार्ग-दर्शन करता है। समितियों के सम्बन्ध में कुछ शक्तियां अध्यक्ष के लिए आरक्षित हैं। कोई समिति पहले अध्यक्ष से अनुमति लिए बिना संसद भवन से बाहर अपनी बैठक नहीं कर सकती है और उसकी पूर्व स्वीकृति लिए बिना राज्य सरकार के अधिकारियों को गवाही देने के लिए बुला सकती है।
- (20) सभा की कतिपय समितियां जैसे 'कार्य मन्त्रणा समिति' अध्यक्ष के नेतृत्व में ही काम करती हैं और अध्यक्ष ही उनका सभापति होता है।
- (21) जहां तक लोकसभा या उससे सम्बन्धित मामलों का प्रश्न है, उनके बारे में संविधान तथा नियमों की व्याख्या करने का अधिकार अध्यक्ष को है और कोई भी सरकार इस सम्बन्ध में अध्यक्ष के साथ वाद-विवाद नहीं कर सकती।
- (22) अध्यक्ष अपने आसन पर बैठकर जो विचार प्रकट करता है वह उनके सम्बन्ध में सार्वजनिकरूप से या समाचारपत्रों में किसी वाद-विवाद में नहीं पड़ता।
- (23) अध्यक्ष सभा में निधन सम्बन्धी निर्देश भी करता है, सभा की अवधि समाप्त होने पर विदाई भाषण देता है और साथ ही महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के सम्बन्ध में औपचारिक अवसरों पर भी भाषण देता है।
- (24) लोकसभा के नियमों के अन्तर्गत अध्यक्ष को यह शक्ति प्राप्त है कि जब कोई विधेयक पास हो जाए तो वह उसमें प्रत्यक्ष गलतियों को शुद्ध करता है और अन्य ऐसे परिवर्तन कर सकता है जो सभा द्वारा स्वीकृत संशोधनों के आनुषांगिक हों।
- (25) जब कोई विधेयक संसद द्वारा पारित कर दिया गया है और उस मस्य सभा में हो तो अध्यक्ष से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के लिए भेजने से पहले उस पर हस्ताक्षर करके उसे प्रमाणित करें।
- (26) अध्यक्ष सचिवालय का प्रमुख है जो कि उसके नियन्त्रण तथा निर्देशों के अन्तर्गत कार्य करता है। लोकसभा के समस्त कर्मचारियों, उसके परिवार तथा सुरक्षा के सम्बन्ध में अध्यक्ष का अधिकार सम्पूर्ण है सभी अजनबी, आगन्तुक तथा समाचारपत्रों के संवाददाता उसके अनुशासन तथा आदेशों के अधीन हैं।
- (27) लोकसभा के सदस्यों के अधिकारों की रक्षा उसकी जिम्मेदारी है। वह सदस्यों के लिए समुचित सुविधाओं की व्यवस्था करता है। अध्यक्ष की अनुमति लिए बिना किसी भी सदस्य को सभा के परिसर में न तो गिरफ्तार किया जा सकता है और न फौजदारी या दीवानी कानून के अन्तर्गत कोई आदेशिका उसे दी जा सकेगी।
- (28) लोकसभा के अध्यक्ष को मन्त्रियों से पूछे जाने वाले प्रश्नों के सम्बन्ध में विभिन्न शक्तियों दी गई हैं। यद्यपि प्रश्नों की ग्राह्यता के सम्बन्ध में मार्गदर्शक सिद्धांत नियमों में दिए गए हैं, परन्तु उनका निर्वाचन करने की शक्ति अध्यक्ष के हाथ में है। अध्यक्ष यह फैसला कर सकता है कि किसी प्रश्न का मौखिक के स्थान पर लिखित उत्तर उपयुक्त होगा।

उपयुक्त शक्तियों तथा कृत्यों से स्पष्ट है कि हमारी लोकसभा के अध्यक्ष की विशाल शक्तियां हैं। इन शक्तियों एवं अधिकारों के प्रयोग से ही वह हमारी विशाल सभा का सफलतापूर्वक संचालन एवं नंतृत्व करता है।

संसदीय शासन के विकास में अध्यक्ष की भूमिका— अध्यक्ष की कोई राजनीति नहीं होती उसे संसदीय शासन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना होता है। उसके पास और कुछ नहीं होता, केवल अपने व्यक्तित्व, अपनी आवाज, महत्व और गौरव से ही वह सदन की व्यवस्था को बनाए रखता है। सारे सदन की सत्ता उसके पीछे होती है। श्री जी.वी. मावलकर लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष थे। सन् 1952 से 27 फरवरी, 1956 तक वे लोकसभा के अध्यक्ष रहे। 27 फरवरी, 1956 को उनका देहान्त हो गया। पूरे देश में उनके असामायिक देहावसान पर शोक मनाया गया। उन्होंने अपने कार्यकाल में अनेक ऐसी परंपराएं डाली कि उन्हें लोकसभा का पिता कहा जाता है। उन्होंने यह घोषणा की कि वे अध्यक्ष के पद पर निष्पक्ष रहने की परंपरा का तो पालन करेंगे, किन्तु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ेंगे। उनका तर्क था कि जिस संस्था के झण्डे के नीचे उन्होंने स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी है, उससे कैसे सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है? उन्होंने लोकसभा का मार्गदर्शन निष्पक्षता, गरिमा तथा प्रतिष्ठा के साथ किया। उन्होंने विधानमण्डल के पीठासीन अधिकारियों को निष्पक्ष रहने का परामर्श दिया। मावलकर के पश्चात् श्री अनन्तशयनम् आयंगर को 8 मार्च 1956 को अध्यक्ष पद पर निर्वाचित किया गया। उन्होंने 1962 तक अध्यक्ष पद पर कार्य किया। वे अपने कर्तव्य पालन में बहुत कठोर थे और कभी-कभी सदन की कार्यवाही में हंसी-मजाक का पुट भी ला देते थे। जब आयंगर को बिहार का राज्यपाल बनाया गया तो उनके स्थान पर सरदार हुकमसिंह को तीसरी लोकसभा का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। दूसरी लोकसभा के उपाध्यक्ष के रूप में उन्होंने पूरे देश में विशिष्ट ख्याति अर्जित कर ली थी और तीसरी लोकसभा की अध्यक्षता के कार्य को उन्होंने अपनी योग्यता, प्रतिभा तथा संसदीय विद्वता से कुशलतापूर्वक चलाया। चतुर्थ लोकसभा की अध्यक्षता का भार श्री संजीव रेड्डी पर डाला गया इस समय बदली हुई दलीय स्थिति में उन्हें कार्य करना पड़ा। सदन में कांग्रेस दल का उतना बहुमत नहीं था जितना कि पूर्व की लोकसभाओं में था। उन्होंने अध्यक्ष पद पर निर्वाचित होते ही कांग्रेस दल से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। संजीव रेड्डी ने राष्ट्रपति का चुनाव लड़ने हेतु लोकसभा की अध्यक्षता से त्याग-पत्र दे दिया। उनके बाद श्री गुरुदयालसिंह ढिल्लन को लोकसभा का अध्यक्ष बनाया गया। डॉ० ढिल्लन के दूसरी बार अध्यक्ष पद पर चुने जाने पर प्रधानमंत्री ने अपने भाषण में कहा था— “सभा का पिछले दो वर्ष का समय शान्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। सभा के छोटे-बड़े हंगामे, जटिल संवैधानिक मामले, प्रक्रिया सम्बन्धी विवाद, कुछ व्यवस्था के प्रश्न उठाए जाते रहे हैं, किन्तु श्री ढिल्लन ने सदैव संसदीय आचरण के मूल सिद्धांतों को कायम रखते हुए तथा अपनी सौजन्यता एवं निष्पक्षता जो उनकी विशेषताएं हैं में ढील नहीं आने दी।” श्री ढिल्लन के मन्त्रि-पद ग्रहण करने के बाद श्री बलीराम भगत को अध्यक्ष पद पर आसीन किया गया। वे लोकसभा के छठे अध्यक्ष थे। उन्होंने कहा था, “क्योंकि लोकसभा का अध्यक्ष सभी दलों के प्रति समानरूप से उत्तरदायी है इसलिए उसका निष्पक्ष होना बहुत आवश्यक है। इस दिशा में भूतपूर्व अध्यक्षों ने जो नियम, आदर्श और परम्पराएं कायम की हैं, मैं उनका यथाशक्ति अनुकरण करूंगा।” श्री बलीराम भगत (जनवरी, 1975 मार्च 1975) के बाद भी नीलम संजीव रेड्डी और उसके बाद के.एस. हेगड़े ने लोकसभा की उच्च परंपराओं को निष्ठापूर्वक संवारा और सृष्ट किया। 1980-89 की लम्बी अवधि तक श्री बलराम जाखड़ लोकसभा के ‘स्पीकर’ पद पर आसीन रहे। बोफार्स मुद्दे पर दबाव में आई राजीव सरकार को बचाने के लिए बलराम जाखड़ ने जेहादी उत्साह दिखाया। उन्होंने लोक लेखा समिति की अध्यक्षता विपक्ष के किसी सदस्य को देने की 19 साल पुरानी परम्परा उलट दी और उस समय इंका की सहयोगी अन्नाद्रमुक के एक सदस्य को इसका अध्यक्ष बना दिया। श्री रविराय दिसम्बर 1989 में नवीं लोकसभा चुनावों के बाद स्पीकर पद सर्वसम्मति से निर्वाचित हुए। दसवीं लोकसभा के चुनाव (1991) के बाद श्री शिवराज पाटिल लोकसभा अध्यक्ष चुने गये। शिवराज पाटिल ने स्पीकर पद की खोई गरिमा को कुछ-कुछ सीमा तक बहाल करने का प्रयास किया वे आयित्व पूरा न करने वाले विपक्षी सदस्यों, दोनों को फटकारते। उन्होंने सदन की कार्यवाही आमतौर पर इस प्रकार चलाई कि वे आलोचना से बचे रहे। 11वीं लोकसभा (1996) के चुनावों के बाद

पी.ए. संगमा अध्यक्ष पद निर्विरोध निर्वाचित हुए। अपनी निष्पक्षता, योग्यता एवं लोकप्रियता के कारण उन्होंने अध्यक्ष पद की गरिमा में अपूर्व वृद्धि की। 12वीं एवं 13वीं लोकसभा चुनावों के बाद तेलूदशम के श्री बालयोगी स्पीकरपद पर आसीन हैं।

श्यामलाल शकधर लिखते हैं “अनन्तशयनम् आयंगर के अध्यक्ष काल में सभा की कार्यवाहियों में गतिशीलता तथा सजीवता देखने को मिली, सरदार हुकमसिंह ने अध्यक्ष पद को प्रतिष्ठा, गरिमा तथा कृत्यों और विचारों में परिपक्वता द्वारा उन्नत बनाया। डॉ० संजीव रेड्डी ने अपना कार्यकाल निष्पक्षता तथा सभा की कार्यवाहियों में सजीवता से पूर्ण किया।” इस प्रकार भारत में संसदीय शासन के विकास में अध्यक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उनका व्यक्तित्व एवं योगदान सराहनीय रहा है जिससे संसद की मान-मर्यादा बढ़ी है।

अध्यक्ष की वास्वतिक स्थिति

(Actual Position of the Speaker)

अध्यक्ष सदन की प्रतिष्ठा, शक्ति तथा गौरव का द्योतक है। भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री नेहरू के शब्दों में, “अध्यक्ष सभा का प्रतिनिधि है। वह सभा की गरिमा और उसकी स्वतंत्रता का प्रतीक है और चूंकि सभा राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है। अतः एक तरह से अध्यक्ष राष्ट्र की स्वतंत्रता और आजादी का प्रतीक बन जाता है। अतः यह उचित ही है कि अध्यक्ष पद सम्मानित पद है। उसकी स्वतंत्र स्थिति है और उस पद पर वही व्यक्ति आसीन होने चाहिए जो साधारणरूप से योग्य तथा निष्पक्ष हो।” लोकसभा के भूतपूर्व सचिव एम. एन. कौल के अनुसार, “यद्यपि साधारणतया अध्यक्ष अध्यक्षता करता है, निगरानी रखता है तथा विवादों को नियन्त्रित करता है, लेकिन उसकी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण है कि किसी भी संकट में उसकी शक्तियां राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है। यथार्थ में भारतीय संसदीय व्यवस्था में लोकसभा का अध्यक्ष उस सन्तुनक चक्र के समान है, जिससे कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में सरकार की ओर से मैं यह कहूंगा कि हम यह चाहेंगे कि माननीय अध्यक्ष अब और हमेशा सदन की स्वतंत्रता की रक्षा प्रत्येक प्रकार के खतरे से करेंगे— कार्यपालिका के अतिक्रमण के खतरे से भी। यह खतरा हमेशा बना रहता है कि एक राष्ट्रीय सरकार अल्पसंख्यकों के विचारों का दमन करने का प्रयत्न करे और ऐसी स्थिति में अध्यक्ष का यह दायित्व हो जाता है कि वह सदन के प्रत्येक सदस्य तथा प्रत्येक इकाई की एक प्रभुत्वपूर्ण सरकार की रक्षा करे।”

अध्यक्ष के निर्णय नजीरों हैं जिनसे आगे वाले अध्यक्षों, सदस्यों तथा अधिकारियों का पथ-प्रदर्शन होता है। ऐसी नजीरों का संग्रह कर लिया जाता है और समय आने पर यही या तो प्रक्रिया नियमों में परिवर्तित हो जाती है और या परिपाटियों के रूप में इनका अनुसरण किया जाता है। अध्यक्ष के निर्णयों को केवल प्रस्ताव रखकर ही चुनौती दी जा सकती है, वैसे उन पर आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। जो सदस्य अध्यक्ष के विनिर्णय पर विरोध प्रकट करता है वह सभा और अध्यक्ष के अपमान का दोषी होता है। अध्यक्ष अपने निर्णय के कारण बताने के लिए बाध्य नहीं होता अध्यक्ष द्वारा दिए गए विनिर्णय या व्यक्त किए गए विचार या दिए गए वक्तव्य की आलोचना नहीं की जा सकती।

लोकसभा का अध्यक्ष भारतीय संसदीय समूह का पदेन सभापति होता है जो भारत में अन्तर्संसदीय संघ के राष्ट्रीय समूह और राष्ट्रमण्डल संसदीय संस्था की मुख्य शाखा के रूप में काम करता है। वह राज्यसभा के सभापति के परामर्श से विदेशों को जाने वाले विभिन्न संसदीय प्रतिनिधिमण्डलों के लिए सदस्यों का नाम निर्देशन करता है। कभी-कभी वह स्वयं इन प्रतिनिधिमण्डलों को नेतृत्व करता है।

संसदीय सचिवालय और सदन की इमारत अध्यक्ष के नियंत्रण में होती है। इस दिशा में सारा प्रशासन अध्यक्ष के आदेश से ही चलता है। सदन के कार्य को चलाने सम्बन्धी सारे अधिकार भी अध्यक्ष को प्राप्त होते हैं।

प्रो. पायली के अनुसार कुछ ही वर्षों के भीतर लोकसभा के अध्यक्ष पद ने सदन की गरिमा को अपनी निष्पक्षता द्वारा बनाए रखा है। प्रारम्भ में मावलंकर जैसे अध्यक्ष इस विचारधारा के थे कि सदन में वह निर्दलीय व्यक्ति के समान आचरण करे, किन्तु सदन के बाहर वह दलगत निष्ठाएं रख सकता है, परन्तु बाद के अध्यक्षों जैसे नीलम संजीव रेड्डी तथा गुरुदयाल सिंह ढिल्लन ने अध्यक्ष-पद धारण करते ही दल की राजनीति से संन्यास ले लिया। अध्यक्ष को भारत में सातवां स्थान प्राप्त है, जो सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के बराबर का है।

अध्यक्ष को लोकसभा के अभिभावक का-सा दायित्व निभाना होता है। सदन में व्यक्तिगत आरोप-प्रत्यारोप के बजाय स्वस्थ विचारों के आदान-प्रदान को समुचित अवसर प्रदान करना होता है।

एंरिकन ने कहा है- “अध्यक्ष की तटस्थता में विश्वास प्रक्रिया के सफलरूप से संचालन के लिए अनिवार्य है। बहुत सी परिपाटियां ऐसी हैं जिनका उद्देश्य ने केवल यह है कि अध्यक्ष की तटस्थता बनी रहे बल्कि यह भी कि उसकी तटस्थता को सभी स्वीकार करें।” भारत में अध्यक्षता करने वाले व्यक्तियों ने दलगत राजनीति से ऊपर उठकर कार्य किया है जिससे उनकी गरिमा में वृद्धि हुई है।

भारतीय अध्यक्ष की ब्रिटिश और अमरीकी अध्यक्ष से तुलना

(Comparison of Indian Speaker with British and American Speaker)

ब्रिटेन की भांति भारत में लोकसभा के अध्यक्ष का दर्जा बहुत सम्मान का है। भारत के अध्यक्ष की स्थिति इंग्लैण्ड और अमरीका के बीच की है। इसका कारण यह है कि भारत में लोकसभा का अध्यक्ष न तो अपना सम्बन्ध राजनीतिक दलों से और दलगत राजनीति से इतना तोड़ लेता है जितना ब्रिटेन में और न ही पद ग्रहण करने के बाद वह इतना पक्षपात करता है जितना अमरीकी प्रतिनिधि सदन का अध्यक्ष। भारत में अध्यक्ष अपने चुनाव के बाद अपने दल से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करता है, परन्तु सक्रिय दलीय राजनीति में भाग नहीं लेता है। वह सदन की कार्यवाही अत्यन्त निष्पक्षरूप से चलाता है। सरदार हुकमसिंह का यह कथन भारतीय अध्यक्ष की निष्पक्षता का कितना सुन्दर उदाहरण है-“आपको मालूम होगा कि एक तरफ जहां विरोधी दलों के कुछ सदस्यों ने मेरी निष्पक्षता को चुनौती दी है, वहीं दूसरी ओर सत्तारूढ़ दल के सदस्यों ने प्रतिपक्ष के प्रति मेरे झुकाव की शिकायत की है। क्या प्रतिक्रिया का यह अन्तर्विरोध मेरी निष्पक्षता का प्रमाण नहीं है?” फिर भी भारत में अध्यक्ष को वह सम्मान नहीं मिल पाया जो ब्रिटेन में अध्यक्ष को प्राप्त है। वहां अध्यक्ष अपने दल से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता है और उसका निर्वाचन भी निर्विरोध होता है। अध्यक्ष के निर्वाचन के समय पी.जी. मावलंकर ने कहा कि “यदि कुछ विरोधी दलों के सदस्यों ने अपना विरोध किया है उसका भाव आपका व्यक्तिगत विरोध करना यही था, वह विरोध तो मात्र इसलिए था कि आप कांग्रेसी उम्मीदवार थे।” 18 दिसम्बर, 1954 को तो लोकसभा में अध्यक्ष के विरुद्ध प्रस्ताव भी पेश किया गया। विरोधी दल आम चुनाव में अध्यक्ष के विरुद्ध प्रत्यक्षी भी खड़ा करते रहे हैं सदन में अध्यक्ष के निर्वाचन के समय भी विपक्षी दलों ने अपने प्रत्यक्षी खड़े किए हैं। श्री मॉरिस जोन्स अपनी पुस्तक (Parliament in India) में एक स्थान पर लिखते हैं “अध्यक्ष पदधारी व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह निष्पक्षतापूर्वक आचरण करे और सभी व्यक्तियों को उसकी निष्पक्षता में पूर्ण विश्वास हो।” अध्यक्ष की निष्पक्षता में सभी व्यक्तियों का विश्वास हो इसके लिए आवश्यक है कि लोकसभा के सदस्य द्वारा अध्यक्ष चुने जाने के बाद अपनी दलगत निष्ठाओं का त्याग कर दिया।

लोकसभाकी शक्तियाँ और कार्य

(Power and Functions of Lok-Sabha)

भारतीय संसद के दो सदनों में लोकसभा लोकप्रिय सदन है, क्योंकि इसके गठन का आधार जनसंख्या है और लोकसभा के सदस्यों को जनता के द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्वाचित किया जाता है। संसदीय व्यवस्था का यह निश्चित सिद्धान्त है कि कानून निर्माण और प्रशासन पर नियंत्रण की अन्तिम शक्ति लोकप्रिय सदन

को ही प्राप्त होती है। भारतीय संविधान द्वारा भी लोकसभा को राज्यसभा की तुलना में उच्च स्थिति प्रदान की गई है। संसद लोकसभा, राज्यसभा तथा राष्ट्रपति से मिलकर बनती हैं, लेकिन लोकसभा संसद की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई है। लोकसभा की शक्तियां तथा उसके कार्यों का अध्ययन निम्नरूपों में किया जा सकता है:

- (1) विधायी शक्ति— संविधान के अनुसार भारतीय संसद संघ सूची, समवर्ती सूची, अवशेष विषयों और कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्यसूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण कर सकती है। यद्यपि संविधान के द्वारा साधारण अवितीय विधेयकों के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्ति प्रदान की गई है। संविधान में कहा गया है कि इस प्रकार के विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में प्रस्तावित किए जा सकते हैं और दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न हो जाने पर राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाए जाने की व्यवस्था है और लोकसभा के सदस्य संख्या राज्यसभा की संख्या की दुगुनी से भी अधिक होने के कारण सामान्यतया इस बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्माण लोकसभा की इच्छानुसार ही होता है। इस प्रकार कानून निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति लोकसभा के पास है और राज्यसभा साधारण अवितीय विधेयक को 6 महीने तक रोकने के अलावा और कुछ नहीं कर सकती है। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाते रहे हैं।
- (2) वित्तीय शक्ति (Financial Power)— भारतीय संविधान द्वारा वित्तीय क्षेत्र के सम्बन्ध में शक्ति लोकसभा को ही प्रदान की गई है और इस सम्बन्ध में राज्यसभा की स्थिति बहुत गौण है। अनुच्छेद 109 के अनुसार वित्त विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जा सकते हैं, राज्यसभा में नहीं। लोकसभा से पारित होने के बाद वित्त विधेयक राज्यसभा में भेजा जाता है और राज्यसभा के लिए यह आवश्यक है कि उसे वित्त विधेयक की प्राप्ति की तिथि के 14 दिन के अन्दर—अन्दर विधेयक लोकसभा को लौटा देना होगा। राज्यसभा विधेयक में संशोधन के लिए सुझाव दे सकती है, लेकिन इन्हें स्वीकार करना या नहीं करना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। संविधान यह भी व्यवस्था करता है कि यदि वित्त विधेयक प्राप्त होने के बाद 14 दिन के अन्दर राज्यसभा सिफारिशों सहित या सिफारिशों के बिना वित्त विधेयक प्राप्त होने के बाद 14 दिन के अन्दर राज्यसभा लोकसभा को न सिफारिशों सहित या सिफारिशों के बिना वित्त विधेयक लोकसभा को न लौटाए, तो निश्चित तिथि के बाद वह दोनों सदनों से पारित मान लिया जाएगा। वार्षिक बजट और अनुदान सम्बन्धी मांग भी लोकसभा के समक्ष ही रखी जाती हैं और इस प्रकार के समस्त व्यय की स्वीकृति देने का एकाधिकार लोकसभा को ही प्राप्त है।
- (3) कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति (Power of Control over Executive)— भारतीय संविधान के द्वारा संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना की गई है, अतः संविधान के अनुसार संघीय कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिमण्डल संसद (व्यवहार में लोकसभा) के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक अपने पद पर रहता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक प्रकार से कार्यपालिका पर नियंत्रण रख सकती है। संसद के सदस्य मंत्रियों से सरकारी नीति के सम्बन्ध में व सरकार के कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं। तथा उनकी आलोचना कर सकते हैं। संसद सरकारी विधेयक अथवा गजट को स्वीकार करके, मंत्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकार करके अथवा किसी सरकारी विधेयक में कोई ऐसा संशोधन करके, जिससे सरकार सहमत न हो, अपना विरोध प्रदर्शित कर सकती है। वह कामरोको प्रस्ताव पास करके भी सरकारी नीति की गलतियों को प्रकाश में ला सकती है। अन्तिमरूप से लोकसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास करके कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद को उसके पद से हटाया जा सकता है।
- (4) संविधान संशोधन सम्बन्धी शक्ति (Power of Amending the Constitution) — जहां एक ओर लोकसभा को सामान्य विधेयक पारित करने का अधिकार प्राप्त है, वहां दूसरी ओर संविधान में संशोधन और परिवर्तन

करने का अधिकार भी प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में संशोधन कार्य संसद के द्वारा ही किया जा सकता है और इसी अनुच्छेद में उस प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है, जिसे संविधान के संशोधन में अपनाया जाता है। संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा की स्थिति समान है क्योंकि संशोधन विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किए जा सकते हैं और उन्हें तभी पारित समझा जाएगा, जबकि उन्हें संसद के दोनों सदन अलग-अलग अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित कर दें। संविधान के अधिकांश प्रावधानों में अकेली संघीय संघ संसद के द्वारा ही परिवर्तन किया जा सकता है केवल कुछ ही प्रावधानों में संशोधन के लिए भारतीय संघ के आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक होती है।

भारतीय संसद की संविधान सम्बन्धी शक्ति पिछले वर्षों बहुत वाद-विवाद का विषय रही है। इस प्रकार के वाद-विवाद का एक प्रमुख बिन्दु यह रहा है कि संसद मौलिक अधिकारों को सीमित करने वाला संवैधानिक संशोधन कर सकती है अथवा नहीं। 1951 और 1965 में तो सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में संसद की इस शक्ति को स्वीकार किया था लेकिन 27 फरवरी, 1967 को गोलकनाथ विवाद में बहुमत से निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि 'संसद कोई ऐसा संवैधानिक संशोधन नहीं कर सकती, जो मौलिक अधिकारों को छीनता या कम करता हो।' 1971 में 24 वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर गोलकनाथ विवाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किए गए निर्णय को रद्द कर दिया गया। 24 वें संवैधानिक संशोधन को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई, लेकिन 22 अप्रैल, 1973 के ऐतिहासिक निर्णय में इसे वैध घोषित किया गया, लेकिन इसके साथ ही इस निर्णय में यह कहा गया कि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संसद को यह अधिकार नहीं है कि वह संविधान के मूल स्वरूप या उसके आधारभूत ढांचे को ही बदल दे या नष्ट कर दे।

- (5) निर्वाचन मण्डल के रूप में कार्य (Function as an Electoral College) – लोकसभा निर्वाचक मण्डल के रूप में भी कार्य करती है। अनुच्छेद 54 के अनुसार लोकसभा के सदस्य राज्यसभा के सदस्यों तथा राज्य विधानसभाओं के सदस्यों के साथ मिलकर राष्ट्रपति को निर्वाचित करते हैं। अनुच्छेद 66 के अनुसार लोकसभा और राज्यसभा मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव कराती हैं। लोकसभा के द्वारा सदन के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को निर्वाचित किया जाता है तथा उन्हें पदच्युत भी कर सकती है।
- (6) जनता की शिकायतों को निवारण (Redressal of Public Grievances) – लोकसभा के सदस्य प्रत्यक्षरूप से जनता द्वारा निर्वाचित होकर आते हैं, अतः उनके द्वारा जनता की शिकायतें, जनता के विचार और भावनाएं सरकार तक पहुंचाई जाती हैं। लोकसभा के सदस्यगण इस बात की चेष्टा करते हैं कि सरकार अपनी नीतियों का निर्माण एवं कार्यों का सम्पादन जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए करे। यदि सैद्धान्तिक अध्ययन के स्थान पर वास्तविक अध्ययन किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि लोकसभा सबसे अधिक प्रमुखरूप में यही कार्य सम्पादित करती है।
- (7) विविध कार्य (Miscellaneous Functions): लोकसभा कुछ अन्य कार्य भी करती है जो इस प्रकार हैं:
 - i. लोकसभा और राज्यसभा मिलकर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा सकती हैं।
 - ii. उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटाने के लिए राज्यसभा प्रस्ताव पास कर दे, तो इस प्रस्ताव का लोकसभा द्वारा अनुमोदन आवश्यक होता है।
 - iii. लोकसभा और राज्यसभा मिलकर सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायधियों के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव पास कर सकती है।

- iv. राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की घोषणा को एक महीने के अन्दर-अन्दर संसद से स्वीकार कराना आवश्यक है। अन्यथा इस प्रकार की घोषणा एक महीने बाद स्वयं ही समाप्त मान ली जाती है।
- v. यदि राष्ट्रपति सर्वक्षमा देना चाहे तो उसकी स्वीकृति संसद से लेनी आवश्यक है।

लोकसभा की शक्तियों के उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यदि संसद देश का सर्वोच्च अंग है, तो लोकसभा संसद का सर्वोच्च अंग जनता का प्रतिनिधि सदन होने के कारण, लोकसभा संसद का महत्वपूर्ण, शक्तिशाली एवं प्रभावशाली अंग है। व्यवहार की दृष्टि से यदि लोकसभा को संसद कह दिया जाए, तो अनुचित न होगा।

1.3.7 भारत में संसदीय समितियां (Parliamentary Committees in India)

विश्व की समस्त व्यवस्थापिकाओं के सामने यह समस्या यह है कि कम-से-कम समय में अच्छे से अच्छा व्यवस्थापन किस प्रकार से हो सके? वर्तमान में सभी संसदें व्यवस्थापन कार्य के भार से दबी हुई हैं। वे बढ़ते हुए व्यवस्थापन कार्य को निपटा नहीं पाती हैं और यदि संसद व्यवस्थापन कार्य में शीघ्रता बरते तो कार्य का स्तर स्वाभाविकरूप से निम्न कोटि का होगा। संसद की इन कठिनाइयों के निराकरण के लिए इंग्लैण्ड में समिति-प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। आधुनिक विधान तन्त्रों में समितियों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है, उनसे कई लाभ हैं – प्रथम, समितियों में सदन की पिछली बेंचों पर बैठने वाले सदस्यों को भी व्यवस्थापन के कार्य में भाग लेने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है। द्वितीय, समितियों में विधेयकों पर निष्पक्षता के साथ सूक्ष्म विचार होता है, ऐसी सूक्ष्मता के साथ विचार करना संसद में कदापि सम्भव नहीं है। तृतीय, समितियों द्वारा सदन का पर्याप्त समय बच जाता है। समितियां एक प्रकार से सदन की आँख, कान, हाथ और मस्तिष्क हैं। चतुर्थ, समितियों के सदस्य अपनी दलगत आस्थाओं के आधार पर मतदान नहीं करते हैं। पंचम, समितियों के सदस्यगण निर्वाधरूप से और अपनी अन्तरात्मा के अनुसार समस्याओं के मूल्यांकन के आधार पर और दलगत निर्देश की चिन्ता किए बिना मतदान करते हैं हरमन फाइनर के अनुसार, “हाल में जो समितियों का प्रादुर्भाव हुआ है उसका कारण उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में व्यवस्थापन कार्य की वृद्धि है। आधुनिक सरकार के कर्तव्यों की व्यापकता के कारण समितियों में होने वाली कार्यवाही को सदन में किए जाने में उससे अधिक समय लगेगा। समिति प्रणाली का मुख्य उद्देश्य अन्य संस्थाओं व अन्य समयों के लिए कार्य हटाकर लोकसदन के कार्यभार की अधिकता को कम करना है।” संक्षेप में, समिति-व्यवस्था द्वारा सदन का समय बच जाता है और उसको विशेषज्ञों का परामर्श भी प्राप्त होता है।

कौल तथा शकधर के अनुसार, “ संसद अपना बहुत-सा कार्य समितियों के माध्यम से करती है। इन समितियों को कार्य की कुछ ऐसी विशेष मदों को निपटाने के लिए नियुक्त किया जाता है जिसके लिए विशेषज्ञों द्वारा या ब्यौरेवार विचार करने की आवश्यकता है।” भारत में समितियों की व्यवस्था मॉण्टेग्यू-चेम्सफार्ड सुधारों के परिणामस्वरूप शुरू हुई थी, लेकिन उन दिनों की समितियों सरकार के निर्णय तथा उसके हस्तक्षेप से स्वतन्त्र नहीं थी। उन्हें कोई शक्तियां या विशेषाधिकार प्राप्त नहीं थे। नए संविधान के लागू होने के बाद केन्द्रीय विधानमण्डल की स्थिति बिल्कुल बदल गई और समिति की व्यवस्था में भी बहुत अधिक परिवर्तन आया। वस्तुतः अब तो संसदीय समितियां संसद का लघुरूप ही बन गई हैं। संसद के दोनों सदनों में समिति व्यवस्था कुछ मामलों को छोड़कर एक जैसी है। न की नियुक्ति, कार्यकाल, कृत्य और कार्यवाही चलाने की प्रक्रिया लगभग एकसमान है। यह प्रक्रिया संविधान के अनुच्छेद 118(1) के अन्तर्गत दोनों सदनों द्वारा बनाए गए नियमों के उपबन्धों द्वारा विनियमित होती है।

1.3.8 निष्कर्ष

निष्कर्षतः ये कहा जा सकता है कि भारत में संसदीय प्रणाली स्थापित हुए, 70 वर्षों से अधिक वर्ष हो गए हैं। भारत में संसदीय प्रणाली ने सफलापूर्वक कार्य किया है तथा लोकतंत्र मजबूत व परिपक्व हुआ है। किन्तु इसमें कुछ दोष उत्पन्न हो गए हैं, जिनकी वजह से संसदीय प्रणाली क्षीण हुई है। पिछले 30 से 35 वर्षों में संसद की स्थिति में

बहुत परिवर्तन आया है। इसका मुख्य कारण बहुदलीय प्रणाली की वजह से उत्पन्न जोड़-तोड़ की राजनीति का उभरना है। जब तक इसमें सुधान नहीं होगा, तब तक संसद की स्थिति में सुधान नहीं होगा।

1.3.9 मुख्य शब्दावली

- सम्प्रभु
- न्यायिक पुनर्विलोकन
- मनोनीत सदस्य
- विधेयक
- पदत व्यवस्थापन

1.3.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

- (1) भारतीय संसद की रचना, शक्तियों एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।
- (2) भारतीय संसद की भूमिका का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
- (3) लोकसभा की रचना, शक्तियों एवं स्थिति का वर्णन कीजिए।
- (4) राज्यसभा के संगठन एवं शक्तियों की संक्षेप में समीक्षा करें।
- (5) भारतीय में संसद सदस्यों के विशेषाधिकारों का वर्णन कीजिए।

1.3.11 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Corner Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B. Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, Federalism in India: A Study of Union-State Relations, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J. Harriss, Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, State Politics in India, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, India: Government and Politics in a Developing Nations, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). Democracy in India, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) Indian Government and Politics, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, Politics in India, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, Party System and Election Studies, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, Government and Politics in India, Delhi, BI Publications, 1974.

- A.C. Noorani, *Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States*, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, *An Introduction to the constitution of India*, New Delhi, 1998.
- A. Ray, *Tension Areas in India's Federal System*, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). *Coalition Politics in India*, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

1.4 भारतीय प्रशासन में मंत्रिमण्डल की भूमिका

(Role of Cabinet in Indian Administration)

1.4.1 परिचय

भारत में ससंदात्मक मंत्रिमण्डलात्मक शासन प्रणाली की स्थापना की गई है। सैद्धान्तिकरूप से संविधान द्वारा सभी कार्यपालिका की शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित मानी गई हैं परन्तु यथार्थ में कार्यपालिका की शक्तियाँ मंत्रिपरिषद् में निहित होती हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 74 के अनुसार, “राष्ट्रपति को उसके कार्यों को पूरा करने में सहायता तथा परामर्श देने के लिए मंत्रिपरिषद् होगी जिसका मुखिया प्रधानमंत्री होगा।” यह प्रावधान सोच-समझकर रखा गया है तथा संविधान के लचीलेपन को बनाए हुए है, अन्यथा भारतीय संविधान के व्यवहार से प्रकट होता है कि राष्ट्रपति स्वर्णिम शून्य है एवं मंत्रिमण्डल ही सक्रिय कार्यपालिका है। यद्यपि संविधान में मंत्रिमण्डल का उपबंध नहीं है, फिर भी यह भारतीय शासन व्यवस्था का प्राण है। मंत्रिमण्डल ही नीति-निर्णायक निकाय है जो न केवल सम्पूर्ण कार्यपालिका सत्ता का संचालन तथा समन्वय करता है बल्कि विधान-मण्डल में विधि-निर्माण को भी दिशा प्रदान करता है। इस तरह मंत्रिमण्डल की बहु-आयामी भूमिका है। रैम्जैम्योर के अनुसार “मंत्रिमण्डल राज्य के जहाज का परिचालक यन्त्र है।” इसी प्रकार मेरियट के शब्दों में “मंत्रिमण्डल वह धुरी है जिस पर प्रशासन चक्र घूमता है।”

1.4.2 उद्देश्य

- भारत की मंत्रीमण्डल प्रणाली को जानना।
- मंत्रीमण्डल के कार्यों को समझना।
- मंत्रीमण्डल व प्रधानमंत्री के सम्बन्धों को जानना।
- मंत्रीमण्डल का नीति निर्माण के कार्यों का मूल्यांकन को जानना।

1.4.3 भारत की मंत्रिमण्डल प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ

1. राष्ट्रपति का मंत्रिमण्डल से अलग होना: भारत का राष्ट्रपति केवल नाममात्र का राज्य का अध्यक्ष है। व्यावहारिकरूप से देश का शासन प्रधानमंत्री द्वारा चलाया जाता है जो इस शासन को मंत्रिमण्डल की सहायता से चलाता है। राष्ट्रपति न तो मंत्रिमण्डल की बैठकों में भाग लेता है और न ही उनकी अध्यक्षता करता है। प्रशासन सम्बन्धी सभी निर्णय मंत्रिमण्डल द्वारा लिए जाते हैं, जिनकी बैठकों की अध्यक्षता प्रधानमंत्री करता है। प्रधानमंत्री ही मंत्रिमण्डल के निर्णयों की जानकारी राष्ट्रपति को देता है। इसलिए राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल के कार्यों में शामिल नहीं होता।
2. राजनीतिक एकरूपता: मंत्रिमण्डल का निर्माण करते समय इसके सभी सदस्य प्रायः एक ही राजनीतिक दल से लिए जाते हैं। क्योंकि मंत्रिमण्डल राजनीतिक सजातीयता के आधार पर अच्छी तरह से कार्य कर सकता है, यदि वे सदस्य एक ही दल के न होकर संयुक्त सरकार के रूप में कार्य कर रहे होते हैं, जैसे की वर्तमान सरकार है, तो वे राष्ट्रीय नीति तथा राजनीतिक समस्याओं के बारे में प्रायः एक मत नहीं हो पाते हैं और सरकार का कार्य समय-समय पर जन-कल्याण की बजाय मंत्री कल्याण में ही गुजरता है। इसलिए मंत्रिमण्डल में एकता होनी बहुत जरूरी है।
3. सामूहिक उत्तरदायित्व: भारतीय मंत्रिमण्डल की एक विशेषता सामूहिक उत्तरदायित्व भी है। इसका अभिप्रायः यह है कि यदि मंत्रिपरिषद् का कोई सदस्य कार्य करता है तो उसे समस्त मंत्रिमण्डल का कार्य समझा जाता है। किसी भी मंत्री द्वारा रखा गया प्रस्ताव या नीति सारे मंत्रिमण्डल की नीति होती है क्योंकि कोई

भी मंत्री संसद के सामने प्रस्ताव नहीं रख सकता जब तक उसे मंत्रिमण्डल स्वीकृति नहीं देता है। उदाहरण के लिए यदि किसी मंत्री के मन्त्रालय के विषय में कोई असंवैधानिक घटना घट जाए तो उस मंत्री को मंत्रिमण्डल को बनाए रखने के लिए त्याग पत्र देना पड़ता है। जैसे 1962 में चीन के आक्रमण के कारण जब देश की विदेश नीति असफल सिद्ध हुई और हमारे सहस्रां वीर मील क्षेत्र पर चीन ने अधिकार कर लिया तो समस्त मंत्रिमण्डल की बजाय केवल सुरक्षामंत्री कृष्ण मैनन ने त्याग पत्र दिया था।

4. गोपनीयता: मंत्रिमण्डल व्यवस्था में गोपनीयता एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसके अनुसार मंत्रिमण्डल की बैठकों में होने वाले विचार विमर्श तथा निर्णयों को गुप्त रखा जाता है। प्रत्येक को अपना पद ग्रहण करने से पहले राष्ट्रपति के सामने पद एवं गोपनीयता की शपथ इसी आधार पर लेनी पड़ती है और यह सभी मंत्रियों का संवैधानिक कर्तव्य है कि वे मंत्रिमण्डल द्वारा किए गए निर्णयों को गुप्त रखें। यदि कोई मंत्री इस बात का उल्लंघन करे तो उसे त्याग पत्र देना पड़ता है जैसे बजट पेश होने से पहले बाहर पता लग जाने के कारण स्वतन्त्रता के पश्चात् पहले मंत्रिमण्डल में से श्री आर.के. सांमुखन (Sh. R.K. Shanmukhan) को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा था।
5. आन्तरिक मंत्रिमण्डल: किसी भी देश में मंत्रिमण्डल एक बहुत महत्वपूर्ण संस्था है, जिसमें निर्णय लेना बहुत कठिन है, क्योंकि इसका आधार बहुत बड़ा है इसलिए जो मंत्री व्यवहार में प्रधानमंत्री के अधिक विश्वासपात्र होते हैं, वह उन्हीं से अति महत्वपूर्ण मुद्दों पर विचार विमर्श करता है और यही अतिविश्वसनीय मंत्रियों की मण्डली ही आन्तरिक मंत्रिमण्डल का कार्य करती है। इस प्रथा का आरम्भ इंग्लैण्ड में युद्ध मंत्रिमण्डल (War Cabinet) के रूप में लायड जार्ज प्रथम तथा विन्स्टन चर्चिल (Winston Churchill) द्वारा द्वितीय महायुद्ध में अति विश्वसनीय पाँच मंत्रियों की एक समिति बनाकर किया गया। इसी प्रकार से भारत में भी आरम्भ से ही इस प्रकार का आन्तरिक मंत्रिमण्डल स्थापित होता आ रहा है। पहली आन्तरिक कैबिनेट में पंडित जवाहर लाल नेहरू, सरदार बल्लभ भाई पटेल तथा मौलाना आजाद शामिल थे। सरदार पटेल की मृत्यु के बाद मौलाना आजाद आयोगर तथा रफी अहमद किदबाई पंडित नेहरू के विश्वासपात्र बने। जब श्रीमती इन्दिरा गाँधी प्रधानमंत्री बनी तो वाई. वी. चौहान, अशोक मेहता तथा दिनेश सिंह उनके विश्वासपात्र थे। बाद में यह स्थिति बदलती रही और साधारणतः गृह, सुरक्षा तथा वित्त विभागों के मंत्रियों को इस संस्था में शामिल समझा जाता है। यही कारण है कि आज अटल बिहारी सरकार में श्री लाल कृष्ण आडवाणी को विश्वासपात्र की वजह से भारत के उपप्रधानमंत्री तथा गृहमंत्री का पद हासिल है।
6. मंत्रिमण्डल तथा संसद में अनुरूपता: मंत्रिमण्डल तथा संसद में अच्छा सम्बन्ध होना आवश्यक है क्योंकि सभी मंत्री संसद के सदस्य होते हैं और बहुमत दल के प्रभावशाली नेता होते हैं। उनका संसद के सदस्यों तथा अपने दल पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। मंत्रिमण्डल को संवैधानिक तौर पर संसद का सेवक कहा जाता है, परन्तु व्यवहार में यह संसद पर नियन्त्रण करता है। इसलिए मंत्रिमण्डल तभी संसद पूर्ण अनुरूपता से कार्य करते हैं। लॉस्की के अनुसार, "मंत्रिमण्डल संसद का एक अंग है और इसे संसद से अलग नहीं किया जा सकता।"
7. प्रधानमंत्री की सर्वोच्चता: केन्द्रीय मंत्रिमण्डल प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में कार्य करता है। प्रधानमंत्री का इस पर पूर्ण अधिकार होता है। संविधान में प्रधानमंत्री को समान मंत्रियों में प्रथम माना जाता है। परन्तु दिन-प्रतिदिन उसकी स्थिति अधिक प्रभावशाली होती जा रही है। उसे मंत्रिमण्डलरूपी महराब का केन्द्रीय पत्थर माना जाता है। सरकार का संगठन उस पर निर्भर करता है। दूसरे मंत्रियों की नियुक्ति उसके परामर्श के अनुसार होती है। वह चाहे तो किसी भी मंत्री को अपने मंत्रिमण्डल से हटा सकता है। कोई भी मंत्री प्रधानमंत्री की इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में उसे अपना पद त्यागना भी पड़ सकता है। या उसे, प्रधानमंत्री के विचार को मानना पड़ता है। जैसे 2 मार्च 1975 को मोहन धारिया

को प्रधानमंत्री से श्री जयप्रकाश के आन्दोलन के सम्बंध में मतभेद होने के कारण अपना पद त्यागना पड़ा था। प्रधानमंत्री ही वास्तविक सरकार है। क्योंकि यदि वे अपना त्यागपत्र दे दे तो सारे मंत्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ता है। वह जिस समय चाहे मंत्रिमण्डल का पुनर्गठन कर सकता है। वह मंत्रिमण्डल का सभापतित्व भी करता है। वह बैठकों को बुलाता है और उनके लिए एजेंडा तैयार करवाता है। इतना ही नहीं वह राष्ट्रपति का प्रमुख सलाहकार भी होता है।

8. मंत्री दोनों सदनों में बैठ सकते हैं: इंग्लैण्ड में मंत्री केवल अपने ही सदन में ही नहीं बैठ सकते अपितु वे संसद के दोनों सदनों में बैठ सकते हैं। वाद-विवाद में भाग ले सकते हैं। लेकिन वोट का प्रयोग केवल उसी सदन में कर सकते हैं जिसके सदस्य होते हैं।
9. मंत्रिमण्डल की समितियां: भारतीय मंत्रिमण्डल में भिन्न-भिन्न विषयों के सम्बन्ध में कई समितियाँ स्थापित की गई हैं। राजनीतिक कार्यों सम्बन्धी समिति इनमें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण समिति है। प्रत्येक विषय पर उससे सम्बन्धित समिति पहले निर्णय लेती है और उस पर फिर समस्त मंत्रिमण्डल विचार करता है।
10. मंत्रिमण्डल संसद को भंग करवा सकता है: जब कभी संसद और कैबिनेट में गतिरोध आ जाए अर्थात् जब कभी संसद कैबिनेट के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास कर दे अथवा ऐसा प्रस्ताव पास करने जा रही है अथवा जब मंत्रिमण्डल जनता का नएरूप से विश्वास प्राप्त करना चाहे तो मंत्रिमण्डल सामूहिकरूप में अथवा प्रधानमंत्री व्यक्तिगतरूप में राष्ट्रपति को कहकर संसद को भंग करवा सकता है। प्रधानमंत्री द्वारा ऐसा कहे जाने पर राष्ट्रपति संसद को अवश्य भंग कर देता है। संसद को भंग करने की शक्ति के कारण आज कैबिनेट की स्थिति अत्यन्त शक्तिशाली हो गई है।

1.4.4 मंत्रिमण्डल के कार्य

1. नीति निर्माण सम्बन्धित कार्य: मंत्रिमण्डल देश की वास्तविक कार्यपालिका होती है। इसलिए यही राष्ट्रीय नीति का निर्माण करती है। सामाजिक कल्याण के कार्यों के लिए सरकार का कर्तव्य निश्चित करना, शान्ति की व्यवस्था बनाए रखने से सम्बन्धित विषयों पर सोच-विचार करना इसी का कार्य क्षेत्र है।

राष्ट्रीय नीति का निर्माण करते समय मंत्रिमण्डल अपने दल के प्रोग्राम तथा सिद्धान्तों को समक्ष रखता है। व्यावहारिकरूप में राष्ट्रीय नीति कीरूप रेखा बहुमत दल की कार्यकारिणी तैयार करती है। और मंत्रिमण्डल उसे विस्तृतरूप में कार्यान्वित करता है। दलीय कार्यकारिणी मंत्रिमण्डल का नीति के सम्बन्ध में निर्देशन करती है। मंत्रिमण्डल इनका उल्लंघन नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त मंत्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति के प्रति सभी मंत्रियों का सहमत होना आवश्यक है। यदि कोई मंत्री इससे सहमत न हो तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है। मंत्रिमण्डल केवल नीति का निर्माण ही नहीं करता, परन्तु इससे संसद द्वारा इसका समर्थन करना पड़ता है। यदि संसद इसका समर्थन न करे या इसमें संशोधन कर दे तो इस स्थिति में मंत्रिमण्डल को संसद की इच्छानुसार नीति में समर्थन करना पड़ता है।

2. प्रशासकीय कार्य: संविधान द्वारा शासन संचालन की शक्ति राष्ट्रपति में निहित की गई है। परन्तु व्यवहार में इसका प्रयोग मंत्रिमण्डल द्वारा किया जाता है। यह कार्यपालिका सम्बन्धित शक्तियों के प्रयोग का मुख्य साधन है। और प्रशासनिक कार्य का मुख्य निर्देशक है। देश के प्रशासन को चलाने के लिए उसे विभागों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक मंत्री को एक या एक से अधिक विभाग दिये जा सकते हैं। वह मंत्रिमण्डल के प्रति व्यक्तिगतरूप में तथा संसद के प्रति सामूहिकरूप में उत्तरदायी होता है। परन्तु उन पर आंतरिक नियन्त्रण मंत्रिपरिषद् का होता है।

3. वैधानिक कार्य: वैधानिक क्षेत्र में मंत्रिमण्डल को विशेष महत्त्व प्राप्त होता है। संसदीय प्रणाली में यद्यपि कानून बनाने का कार्य विधान पालिका का है। फिर भी दिन-प्रतिदिन इस क्षेत्र में भी “ मंत्रिमण्डल का दखल इतना हो गया कि यह बिना किसी बढावे के कहा जा सकता है कि आज-कल विधान निर्माण का कार्य संसद की स्वीकृति से मंत्रिमण्डल ही करता है।” संसद के अधिवेशन बुलाने का निर्णय मंत्रिमण्डल करता है। यह राष्ट्रपति द्वारा संसद में दिया जाने वाले भाषण भी तैयार करता है। जिसमें आगामी वैधानिक कार्यों का वर्णन होता है। मंत्रिमण्डल हर विषय से सम्बन्धित बिल तैयार करता है और उसे कानून कारूप देने के लिए संसद में पेश करता है। परन्तु अधिकांश बिल मंत्रिमण्डल द्वारा ही पेश किये जाते हैं। और संसद का अधिकांश समय इन बिलों पर सोच-विचार करने और उन्हें स्वीकार करने में ही लग जाता है। मंत्री बिल के प्रत्येक पहलू प्रकाश डालते हैं। और संसद सदस्य के द्वारा पूछे गये सवालों का उत्तर देते हैं। मंत्रिमण्डल को बहुमत दल का समर्थन प्राप्त होने के कारण सभी बिल स्वीकृत हो जाते हैं। जिस समय संसद का अधिवेशन न हो रहा हो मंत्रिमण्डल राष्ट्रपति के नाम पर अध्यादेश जारी करती है। जिससे संसद द्वारा पास किए गए कानूनों की भांति लागू किया जाता है। मंत्रिपरिषद् के पास समय कम और काम अधिक होने के कारण कानून बनाते समय वे इस पर विस्तृतरूप से विचार नहीं कर सकते। मंत्रिपरिषद् इन्हें केवल ढाँचे के रूप में पास करती है। तथा मंत्रिमण्डल को इसमें विस्तार करने का अधिकार देती है। जो समयानुसार इसका प्रयोग करता है।
4. विदेश नीति बनाना तथा अन्य देशों में सम्बन्धों का संचालन: चूंकि आधुनिक युग अन्तरराष्ट्रीयवाद का युग है। और कोई भी देश एक व्यक्ति की तरह आत्म सम्पन्न नहीं है। उसे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए व्यक्ति की तरह ही राज्यों पर निर्भर होना पड़ता है। इसलिए विदेश नीति बनाना अति महत्वपूर्ण कार्य है। तथा इसके लिए मंत्रिपरिषद् सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण करती है। जैसे भारत में गुट निरपेक्षता की नीति अपनाई है। नीति का निर्माण करने के पश्चात् मंत्रिमण्डल इसे वास्तविकरूप देने के लिए पग उठाता है। तथा इसका संचालन करता है। दूसरे देशों से सन्धियाँ तथा समझौते राष्ट्रपति के नाम पर मंत्रियों द्वारा ही किये जाते हैं। मंत्रिपरिषद् विदेशों में भेजे जाने वाले राजदूतों को चुनती है तथा उसके परामर्श पर राष्ट्रपति उसकी नियुक्ति करता है। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति युद्ध एवं युद्ध विराम की घोषणा नहीं कर सकता। परन्तु व्यवहार में ऐसी घोषणा मंत्रिमण्डल के निर्णय अनुसार की जाती है और राष्ट्रपति केवल इसे औपचारिकरूप देता है।
5. वित्तीय कार्य: मंत्रिमण्डल का राष्ट्र की वित्त-व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण होता है। यह देश की कुल आय और व्यय का उत्तरदायी होता है। वह देश का वार्षिक बजट तैयार करती है। तथा संसद की स्वीकृति के बाद वित्त मंत्री द्वारा संसद में पेश करवाती है। नये प्रकार के कर लगाने के सुझाव रखती है। जिस समय बजट संसद के समक्ष रखा जाता है तो प्रत्येक मंत्री अपने विभाग के लिए उत्तरदायी होता है। यदि देश में संकट उत्पन्न हो जाए तो मंत्रिमण्डल राष्ट्रपति को वित्तीय संकटकाल की घोषणा करने का परामर्श देता है। यह राष्ट्रपति को वित्त आयोग गठित करने का सुझाव देता है।
6. विभागों के कार्यों में समन्वय करना: वह सभी विभागों की पारस्परिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करती है। तथा उनके कार्यों का समन्वय करती है। विभागों के पारस्परिक झगड़े मंत्रिमण्डल के समक्ष रखे जाते हैं। तथा उनका निर्णय करता है। यह विभिन्न विभागों का उत्तरदायित्व निश्चित करता है। तथा उनके कार्यों का निरीक्षण करता है।
7. नियुक्तियों पर नियन्त्रण: मंत्रिमण्डल के परामर्श से राष्ट्रपति राज्यों के गवर्नरों, राजदूत, अर्टोनी जनरल, नियन्त्रण व महालेखा परीक्षक संघीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों, वित्तीय आयोग की नियुक्ति करता है। यहाँ तक कि सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति भी

राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल के परामर्श पर करता है। इसके अतिरिक्त लोक सेवाओं के कुछ उच्च पदों पर नियुक्त भी मंत्रिमण्डल द्वारा की जाती है। जैसे केन्द्रीय मंत्रालयों के सचिवालयों के उपसचिव तथा उससे उच्च पदों पर नियुक्तियाँ मंत्रिमण्डल की नियुक्ति समिति द्वारा केन्द्रीय तथा अखिल भारतीय सेवाओं के कर्मचारियों को पदोन्नत करके की जाती है।

8. राष्ट्रपति को परामर्श देती है: मंत्रिमण्डल राष्ट्रपति का प्रमुख सलाहकार होता है। वह उसे हर समय तथा हर सहायक सलाह देता है। जिसे राष्ट्रपति को मानना ही पड़ता है।
9. अन्य कार्य: भारतीय मंत्रिमण्डल को कुछ ऐसे अधिकार भी प्राप्त हैं जो ब्रिटिश मंत्रिमण्डल को प्राप्त नहीं है। उदाहरण संसद के विशान्तिकाल में राष्ट्रपति के प्राधिकार के अन्तर्गत मंत्रिमण्डल को विधि निर्माण का अधिकार है। सकटकालीन स्थिति में राष्ट्रपति के अधिकार व्यावहारिकरूप में मंत्रिमण्डल के ही अधिकार हैं। जिसके अन्तर्गत वह मौलिक अधिकारों को निलम्बित कर सकता है। तथा इसके द्वारा अन्य आवश्यक कदम उठाए जा सकते हैं।

1.4.5 निष्कर्ष

कैबिनेट को साधारण भाषा में मंत्रिमण्डल भी कहा जाता है। लेकिन ये दोनों अलग हैं। मंत्रिमण्डल में कई प्रकार के मंत्री शामिल होते हैं। कैबिनेट द्वारा महत्वपूर्ण कार्य किए जाते हैं, जिनमें सरकार की नीतियों को संसद में प्रस्तुत करना, सरकार की नीतियों को लागू करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, तथा सभी विभागों और मंत्रालयों के बीच समन्वय स्थापित करते हैं। मंत्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत पर कार्य करती है। इस सिद्धांत के अंतर्गत सभी मंत्री अपने कार्य के प्रति एवं सरकार के प्रति सामूहिकरूप से उत्तरदायी होते हैं।

1.4.6 मुख्य शब्दावली

- मंत्रिमण्डलात्मक
- गोपनीयता
- अविश्वास प्रस्ताव
- अधिवेशन
- अध्यादेश

1.4.7 अभ्यास हेतु प्रश्न

- 1) मंत्रिमण्डल से आप क्या समझते हैं? इसकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन करो।
- 2) मंत्रिमण्डल के कार्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
- 3) क्या भारत के प्रशासन में मंत्रिमण्डल की अहम भूमिका है? वर्णन कीजिए।

1.4.8 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Corner Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.

- D. D. Basu and B.Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, Federalism in India: A Study of Union-State Relations, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J.Harriss, Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, State Politics in India, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, India: Government and Politics in a Developing Nations, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). Democracy in India, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) Indian Government and Politics, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, Politics in India, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, Party System and Election Studies, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, Government and Politics in India, Delhi, BI Publications, 1974.
- A.C. Noorani, Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, An Introduction to the constitution of India, New Delhi, 1998.
- A. Ray, Tension Areas in India's Federal System, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). Coalition Politics in India, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

1.5 प्रधानमंत्री

(Prime Minister)

1.5.1 परिचय

भारत एक सार्वभौमिक प्रभुसत्ता सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को राष्ट्राध्यक्ष का दर्जा दिया गया है जबकि प्रधानमंत्री वास्तविक शासनाध्यक्ष बनाया गया है। सैद्धान्तिकरूप से संविधान द्वारा सभी शक्तियां राष्ट्रपति में निहित की गई हैं, परन्तु वास्तव में मंत्रिपरिषद् ही सरकार की सभी शक्तियों का प्रयोग करती है अतः मन्त्रिमण्डल वह धुरी है जिस पर शासन चक्र घूमता है, और प्रधानमंत्री इस मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष होता है। इसलिए प्रधानमंत्री को राज्यरूपी जहाज का चालक कहा जाता है। वह सम्पूर्ण शासन की आधारशिला है। व्यवहार में मंत्रिपरिषद् के अन्दर तथा बाहर सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति प्रधानमंत्री ही है। संविधान के अनुच्छेद 74 में उल्लेख है कि "राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता एवं परामर्श देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होगा।" इसलिए भारतीय प्रधानमंत्री की सरकार तथा प्रशासन में अहम् भूमिका है।

1.5.2 उद्देश्य

- प्रधानमंत्री की नियुक्ति के बारे में जानना।
- प्रधानमंत्री के कार्यों को समझना
- प्रधानमंत्री व राष्ट्रपति की शक्तियों का मूल्यांकन करना।
- प्रधानमंत्री की शक्तियों को समझना।

1.5.3 प्रधानमंत्री की नियुक्ति

संवैधानिक प्रावधान के अनुसार प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। जब देश में आम चुनावों द्वारा लोकसभा का गठन होता है तो लोकसभा में जिस राजनैतिक दल का बहुमत होता है उस दल के मुखिया को राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री पद पर नियुक्ति हेतु बुलाया जाता है और प्रधानमंत्री पद की शपथ दिलाई जाती है। इस स्थिति में राष्ट्रपति को विवके का प्रयोग करने का अवसर नहीं रहता है। राष्ट्रपति अपने विवके व सूझबूझ का उस स्थिति में प्रयोग करता है जब लोकसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति को प्रधानमंत्री नियुक्त करता है, जो केन्द्र में स्थाई सरकार बना सके। उदाहरण के लिए सन् 1989 में जब लोकसभा में किसी भी दल को बहुमत नहीं मिला तो राष्ट्रीय मोर्चे के नेता श्री विश्वनाथ प्रतापसिंह को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया था फिर 1991 में श्री पामुलपति वेंकट नरसिम्हा राव को, 1998 में श्री अटल बिहारी वाजपेयी को और इसी प्रकार सन् 1999 में राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक गठबन्धन, जिसमें 23 राजनीतिक दल शामिल थे, को लोकसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और गठबन्धन द्वारा दोबारा श्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में केन्द्र में मिली-जुली सरकार का गठन किया गया।

प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्ति के लिए संविधान में कोई अलग योग्यता नहीं रखी गई है। वह संसद के किसी भी सदस्य हो सकता है तथा यदि नियुक्ति के समय वह संसद का सदस्य नहीं है तो छः महीने के अन्दर उसे सदस्यता ग्रहण करनी आवश्यक है, अन्यथा उस पद को रिक्त समझा जाएगा। इसलिए उसमें वे सभी योग्यताएं होनी चाहिए जो भारत के संविधान में लोकसभा का सदस्य बनने के लिए निर्धारित की गई हैं।

संविधान की धारा 75 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है, मन्त्री राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर बने रहेंगे। (The Ministers shall hold office during the pleasure of the President.) लेकिन व्यवहार में स्थिति

बिल्कुल भिन्न है। प्रधानमंत्री 5 वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है, लेकिन जब तक उसे लोकसभा में बहुमत प्राप्त है, वह अपने पद पर बना रहेगा। अभिप्राय यह हुआ कि प्रधानमंत्री का कार्यकाल निश्चित नहीं है। लोकसभा के अविश्वास के प्रस्ताव के द्वारा, प्रधानमंत्री को हटाया जा सकता है। 10 जुलाई, 1979 को लोकसभा के विरोधी दल के नेता यशवन्त राव चौहान ने प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई के विरुद्ध अविश्वास-प्रस्ताव पेश किया। अविश्वास-प्रस्ताव पर मतदान होने से पूर्व ही प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने 15 जुलाई, 1979 को त्यागपत्र दे दिया, क्योंकि जनता पार्टी के काफी सदस्यों ने जनता पार्टी को छोड़ दिया था। यह पहला अवसर था जब किसी प्रधानमंत्री को अविश्वास-प्रस्ताव के कारण त्यागपत्र देना पड़ा। 39वें संशोधन के द्वारा, जिसे अनुच्छेद 329। को संविधान में अंकित किया गया था, उस अनुच्छेद को 44वें संशोधन द्वारा संविधान में से निकाल दिया गया है। अब प्रधानमंत्री के चुनाव-सम्बन्धी विवादों की सुनवाई उसी प्रकार की जाती है, जिस प्रकार संसद के किसी अन्य सदस्य के विरुद्ध धारा 329 के अधीन होती है। 17 अप्रैल, 1999 में अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार द्वारा लोकसभा में विश्वास मत खो देने के पश्चात् अपना त्यागपत्र दे दिया गया था। अतः प्रधानमंत्री का कार्यकाल निश्चित नहीं है।

1.5.4 प्रधानमंत्री के कार्य एवं शक्तियाँ

इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री के बारे में ग्लैडस्टोन ने कहा था, "कही भी इतने छोटे पद की इतनी बड़ी छाया नहीं है।" (Nowhere has so small a substance cast so large shadow.) इसी प्रकार से श्री ग्रीब्स ने भी कहा था, "उसकी शक्तियाँ एक तानाशाह जैसी दिखाई पड़ती हैं।" (His formal powers resemble closely to those of an autocrat.) यदि इन दोनों उक्तियों को भारत के प्रधानमंत्री पर लागू किया जाए तो बिल्कुल ठीक बैठती हैं। भारत में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसको इतनी शक्तियाँ प्राप्त हों। प्रधानमंत्री की शक्तियों और कार्यों का विवरण निम्नलिखित है—

1. यह मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करता है: बहुमत दल का नेता होने के कारण राष्ट्रपति उसे प्रधानमंत्री नियुक्त करता है तथा उसे सरकार निर्माण करने के लिए निम्नन्त्रित करता है। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री द्वारा सुझाए गए व्यक्तियों को ही मन्त्री नियुक्त करता है। मन्त्रियों का चुनाव पूर्णतया प्रधानमंत्री की इच्छा पर निर्भर रहता है। यह ठीक है कि प्रधानमंत्री अपने दल के प्रमुख नेताओं को मन्त्री बनाने के अधिकार की उल्लंघना कम ही करता है, परन्तु अगर वह चाहे तो दल के प्रमुख नेताओं को किसी-न-किसी बहाने मन्त्रिपरिषद् की सदस्यता से वंचित कर सकता है। श्री मोरारजी देसाई ने त्यागपत्र प्रधानमंत्री की इच्छा पर ही दिया था चाहे बाहरीरूप में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दरा गाँधी ने ऐसी इच्छा प्रकट नहीं की थी।
2. विभागों का बंटवारा: न केवल प्रधानमंत्री मन्त्रियों को नियुक्त करता है, अपितु वह उनमें विभागों का बंटवारा भी करता है। यह निर्णय वही करता है कि कौन-सा मन्त्री किस विभाग का अध्यक्ष होगा तथा कौन-सा मन्त्री कैबिनेट मन्त्री होगा तथा कौन-सा मन्त्री राज्य मन्त्री अथवा उपमन्त्री। विभाग बांटने की शक्ति को प्रधानमंत्री की स्वेच्छाधारी शक्ति कहा जा सकता है। यह ठीक है कि उसे पार्टी के नेताओं को सतुष्ट रखना होता है तथा देश के प्रत्येक क्षेत्र को प्रतिनिधित्व देना होता है, परन्तु एक दृढ़ तथा लोकप्रिय नेता प्रधानमंत्री के रूप में अपनी इच्छानुसार मन्त्रीपरिषद् को रूप दे सकता है।
3. मन्त्रियों को हटाने की शक्ति: सैद्धान्तिकरूप में मन्त्री, राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त पद पर बने रहते हैं, परन्तु राष्ट्रपति मन्त्रियों को पद से अलग करने का निर्णय प्रधानमंत्री के कहने पर ही करता है। अतः "व्यवहार में मन्त्री प्रधानमंत्री के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर रहते हैं।" (Theoretically the Ministers hold office during the pleasure of the President but in practice, it is the pleasure of the Prime Minister during which they remain in office.) अगर प्रधानमंत्री की दृष्टि में कोई मन्त्री कुशलता से कार्य नहीं कर रहा अथवा वह मन्त्री प्रधानमंत्री के किसी निर्णय से सहमत नहीं है तो प्रधानमंत्री उस व्यक्ति को त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है, जो कि उस मन्त्री को देना ही होता है, अथवा प्रधानमंत्री राष्ट्रपति को कहकर उसे

पदच्युत करवा सकता है। वास्तव में इस बात की नौबत नहीं आती। जब भी किसी मन्त्री को यह पता चल जाता है कि प्रधानमंत्री उसे मन्त्रिपरिषद् में नहीं रखना चाहता तो वह स्वयं त्यागपत्र दे देता है।

सन् 1995 में हवाला काण्ड सामने आया। उसमें राव सरकार के कई मन्त्री लिप्त थे। तत्काल प्रधानमंत्री राव ने उन सभी मन्त्रियों को मन्त्रिमण्डल से हटा दिया जो हवाला काण्ड में संलिप्त थे। इसी प्रकार पूर्व प्रधानमंत्री श्री देवगौड़ा ने श्री तसलीमूद्दीन को मन्त्रिपरिषद् से हटाया, क्योंकि उनके विरुद्ध असामाजिक तत्वों से सम्बन्ध का आरोप था।

4. लोकसभा का नेतृत्व करता है: इंग्लैण्ड की भांति भारत का प्रधानमंत्री लोकसभा का नेतृत्व करता है। वह सदन में सरकार की नीति से सम्बन्धित महत्वपूर्ण घोषणाएं करता है और प्रश्नों के उत्तर देता है। वह लोकसभा में वाद-विवाद को आरम्भ करता है तथा मन्त्रियों की सदन में आलोचना से सुरक्षा करता है। वह अपने दल के सदस्यों को सचेतक (Whips) द्वारा आदेश तथा निर्देश भेजता है तथा उन पर निगरानी और नियन्त्रण रखता है। सदन के वैधानिक कार्यों पर उसका विशेष प्रभाव होता है। वह स्पीकर के साथ मिलकर सदन का कार्य करता है तथा सदन में अनुशासन बनाए रखने के लिए स्पीकर की सहायता करता है।
5. राष्ट्रपति तथा मन्त्रिमण्डल में कड़ी का काम करता है: प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति तथा मन्त्रिमण्डल के मध्य कड़ी का काम करता है। वह राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल के द्वारा किए गए निर्णय की सूचना देता है तथा राष्ट्रपति के विचार मन्त्रिमण्डल के समक्ष रखता है। राष्ट्रपति उसे किसी एक मन्त्री द्वारा व्यक्तिगतरूप से किए गए निर्णयों पर मन्त्रिमण्डल का निर्णय लेने के लिए कह सकता है। वह राष्ट्रपति का मुख्य सलाहकार होता है। यदि राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के परामर्श से सहमत न हो तो वो उसे परामर्श मानना पड़ता है।
6. कैबिनेट का नेतृत्व: प्रधानमंत्री कैबिनेट का नेता होता है। वह कैबिनेट की बैठकों की प्रधानता करता है। राष्ट्रपति कैबिनेट की कार्यवाही में भाग नहीं लेता। प्रधानमंत्री के नेतृत्व में ही कैबिनेट सभी कार्य करता है। वह कैबिनेट में विभिन्न विषयों पर बहस संचालित करता है तथा अगर उचित समझे तो उन पर मतदान करवाता है। अधिकतर किसी नीति पर सहमति तभी होती है, जब उस नीति को प्रधानमंत्री की सहमति प्राप्त हो जाए। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कैबिनेट की सम्पूर्ण कार्यवाही प्रधानमंत्री की देखरेख में होती है।
7. विभिन्न विभागों में एक कड़ी: कैबिनेट का प्रधान होने के नाते वह एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य करता है। अतः विभिन्न विभागों में उत्पन्न होने वाली आपसी समस्याओं, झगड़ों तथा मतभेदों को इस तरह सुलझाते हैं, जिससे प्रशासनिक कुशलता बनी रहे। कुशल प्रशासन के लिए यह आवश्यक है कि सरकार के विभिन्न विभागों में आपसी सहयोग तथा साधनों का समन्वय हो। ऐसे उद्देश्य के लिए प्रधानमंत्री विभिन्न विभागों में कड़ी की तरह कार्य करता है। वह अन्तर्विभागीय मतभेदों को दूर करने के लिए मध्यस्थ तथा निर्णायक केरूप में भी कार्य करता है।
8. राष्ट्रपति का मुख्य सलाहकार: प्रधानमंत्री राष्ट्रपति का मुख्य सलाहकार है। राष्ट्रपति प्रत्येक मामले पर प्रधानमंत्री की सलाह लेता है और उसके द्वारा दी गई सलाह के अनुसार ही कार्य करता है, वह उसकी सलाह को मानने के लिए बाध्य है। राष्ट्रपति को प्रशासन के बारे में किसी भी प्रकार की सूचना प्राप्त करनी हो तो वह किसी अन्य मन्त्री से सीधा बात ने करके प्रधानमंत्री से ही बात करता है तथा सूचना प्राप्त करता है।
9. दल का नेता: प्रधानमंत्री अपने दल का नेता होता है। दल की नीतियों तथा कार्यक्रम को तैयार करने में उसका मुख्य हाथ होता है। आम चुनाव के समय दल के उम्मीदवारों को खड़ा कर उन्हें टिकटें देना तथा उन्हें चुनाव जीतवाने में वह बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उस समय वह समस्त देश का दौरा करके जनता से उसके दल के उम्मीदवारों के पक्ष में मत देने की अपील करता है।

10.

सदन के नेता के रूप में: दल का नेता होने के साथ-साथ वह सदन का भी नेता होता है। प्रधानमंत्री ही संसद के अधिवेशन बुलाने की तिथि निश्चित करता है। लोकसभा की कार्यवाही चलाने का उत्तरदायित्व उसी पर होता है। कौन-सा बिल कब प्रस्तुत किया जाएगा और कौन-सा बाद में, किस बिल पर कितना वाद-विवाद होगा, यदि विरोधी दल बिल पेश करना चाहता है तो उस पर वाद-विवाद कब होगा, इन सब बातों का निर्णय स्वीकर, प्रधानमंत्री और विपक्ष के नेता से सलाह करके करता है। प्रधानमंत्री ही सदन में महत्वपूर्ण नीतियों की घोषणा करता है। प्रधानमंत्री ही सरकार की नीतियों को सदन में पेश करता है यदि विरोधी दल द्वारा इन नीतियों की आलोचना की जाती है तो वह उन आलोचनाओं का उत्तर देता है। विशेषकर प्रधानमंत्री की महत्ता तब और भी बढ़ जाती है, जब वह अविश्वास से प्रस्ताव के नाजुक समय में अपने दल की रक्षा करता है।
11.

प्रधानमंत्री राष्ट्र के नेता के रूप में: प्रधानमंत्री राष्ट्र का नेता है। सारा राष्ट्र प्रधानमंत्री की ओर अच्छे प्रशासन व पथ-प्रदर्शन के लिए निगाहें लगाए हुए होता है। साधारणतः चुनाव भी प्रधानमंत्री के नाम पर लड़े जाते हैं; जैसे सन् 1980 में इन्दिरा गाँधी ने चुनाव जीता, ऐसे ही सन् 1989 में श्री वी.पी. सिंह ने जनता को विश्वास दिलाया था कि राष्ट्र को साफ सुथरी सरकार देंगे। इसी प्रकार सन् 1998 में लोकसभा के चुनाव में यह नारा दिया गया, 'अब की बारी अटल बिहारी' अर्थात् मतदाता दल को महत्व देते ही हैं, लेकिन साथ में इसके नेता को अधिक महत्व देते हैं। प्रधानमंत्री का राष्ट्र के नेता के रूप में महत्व संकटकालीन समय में और भी बढ़ जाता है। सारा राष्ट्र देश के प्रधानमंत्री की ओर देखता है और जनता उसके विचारों को बड़े ध्यान से सुनती है।
12.

लोकसभा को भंग कराने का अधिकार: इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री को यह विशेषाधिकार प्राप्त है कि वह कॉमन्स सभा को भंग कर दे और इस मामले में उसे मन्त्रिमण्डल की सलाह लेने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार का अधिकार भारत के प्रधानमंत्री को दिया गया है। वह राष्ट्रपति को सलाह देकर लोकसभा को भंग करवा सकता है। जैसा कि सन् 1977 में राष्ट्रपति फखरुद्दीन ने प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी की सलाह पर लोकसभा को भंग किया था। इसी प्रकार चौ० चरण सिंह की सलाह पर राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने भी लोकसभा को भंग किया था। सन् 1997 में पूर्व प्रधानमंत्री इन्द्रकुमार गुजराल के परामर्श पर भी राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा को भंग कर दिया गया था और इसके पश्चात् नए चुनाव करवाए गए। इसी प्रकार सन् 1999 में प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी के मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा को भंग कर दिया गया। राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की सलाह को मानना पड़ेगा ऐसा प्रावधान संविधान की धारा 42 में किया गया है।
13.

प्रधानमंत्री और विदेश-नीति: प्रधानमंत्री भले ही विदेशी विभाग अपने पास न रखता हो, परन्तु उसे विदेश मन्त्रालय से घनिष्ठ सम्बन्ध रखना पड़ता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की नीति का स्पष्टीकरण करता है। विदेश-नीति के सभी महत्वपूर्ण विषय उसी के द्वारा निश्चित किए जाते हैं। विदेशी राज्यों में प्रधानमंत्री की विचारधारा एवं नीतियाँ मान्य होती हैं। उसी के सुझावों पर किसी राज्य को मान्यता दी जाती है, राजदूत नियुक्त किए जाते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें वापिस बुलाया जाता है। राज्यों के अध्यक्षों की बैठकों में या सम्मेलनों में वह भारत का प्रतिनिधित्व करता है। शान्ति, युद्ध और सन्धि के क्षेत्र में प्रधानमंत्री की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। संयुक्त राष्ट्र संघ में किसी देश के प्रतिनिधि के रूप में प्रधानमंत्री ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।
14.

प्रधानमंत्री राष्ट्रमण्डल के देशों से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करता है: भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य है, जिस कारण राष्ट्रमण्डल के देशों के साथ मैत्री के सम्बन्ध स्थापित करना प्रधानमंत्री का कार्य है। प्रधानमंत्री राष्ट्रमण्डल की बैठकों में भाग लेता है।

15. प्रधानमंत्री और सुरक्षा: राष्ट्र की सुरक्षा का उत्तरदायित्व प्रधानमंत्री पर ही होता है। इसका कारण उसका रक्षा विभाग पर पूरा नियन्त्रण होता है। राष्ट्र की सुरक्षा और विदेश-नीति में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और वह दोनों ही विभागों के कार्यों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। देश की हार-जीत उसकी हार-जीत है। उदाहरण के लिए सन् 1965 के युद्ध में पाकिस्तान पर विजय का श्रेय श्री लाल बहादुर शास्त्री को मिला। प्रधानमंत्री राष्ट्र की सुरक्षा के लिए कैबिनेट से सलाह लेकर यह निर्णय करता है कि किस राष्ट्र से सन्धि की जाए, किस राष्ट्र से किस प्रकार के अस्त्र लिए जाएं और संकट के समय किस राष्ट्र की सहायता ली जाए।
16. प्रधानमंत्री का अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण: प्रधानमंत्री का देश की अर्थव्यवस्था पर पूरा नियन्त्रण होता है। अर्थव्यवस्था की विफलता का उत्तरदायित्व प्रधानमंत्री पर ही होता है। जुलाई, 1969 से लेकर जून, 1970 तक वित्त विभाग श्रीमति इन्दिरा गांधी के पास ही था। बजट का निर्माण वित्त मंत्री प्रधानमंत्री की सलाह से ही करता है। योजना आयोग का अध्यक्ष प्रधानमंत्री ही होता है।
17. सरकार का मुख्य प्रवक्ता: संसद तथा जनता के सामने मन्त्रिमण्डल की नीति और निर्णयों की घोषणा प्रधानमंत्री द्वारा की जाती है वह सभी प्रशासकीय विभागों की जानकारी रखता है और जब कभी कोई मन्त्री संकट में हो तो उसकी सहायता आयोग का अध्यक्ष प्रधानमंत्री ही होता है।
18. प्रधानमंत्री की आपातकालीन शक्तियाँ: भारतीय संविधान के अन्तर्गत धारा 352, 356, 360 के द्वारा भारत के राष्ट्रपति को तीन प्रकार की संकटकालीन शक्तियाँ दी गई हैं, लेकिन वास्तविकरूप में राष्ट्रपति इन शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री की सलाह के अनुसार ही करता है, जैसे अक्टूबर, 1962 में चीन के आक्रमण के समय एवं 3 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तान के आक्रमण के समय तथा 26 जून, 1975 को आन्तरिक व्यवस्था के खराब होने पर अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री की सलाह से ही आपातकालीन स्थिति की घोषणा की थी। इसी प्रकार अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्यों में राष्ट्रपति-शासन भी प्रधानमंत्री की सलाह के अनुसार लगाया जात है 44वें संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति, अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत संकटकाल की घोषणा तभी कर सकता है, यदि मन्त्रिमण्डल संकटकाल की घोषणा करने की लिखित सहाह दे। अप्रैल, 1977 को कार्यवाहक राष्ट्रपति श्री बी० डी० जती ने प्रधानमंत्री की सलाह पर नौ विधानसभाओं का भंग किया।

प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व: किसी भी प्रधानमंत्री की स्थिति और भूमिका उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। महान् व्यक्तित्व का प्रधानमंत्री एक प्रभावशाली प्रधानमंत्री होता है, जिसकी भूमिका का प्रभाव शासन, दल और जनता पर पड़ता है। भारत में नेहरू, इन्दिरा गाँधी तथा राजीव गाँधी ऐसे ही प्रधानमंत्री थे। वर्तमान प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी भी ऐसे ही प्रधानमंत्री हैं। दुर्बल व्यक्तित्व के प्रधानमंत्री का राष्ट्र की गतिविधियों पर नियन्त्रण कम रहता है और वह कोई विशिष्ट छाप नहीं छोड़ पाता।

प्रधानमंत्री की स्थिति: प्रधानमंत्री की शक्तियाँ एवं कार्यों का अध्ययन करने से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि हमारी संवैधानिक व्यवस्था में प्रधानमंत्री की स्थिति केन्द्रीय धुरी के समान है। श्री नेहरू प्रधानमंत्री पद को 'सरकार की मुख्य कड़ी' की उपमा दी। 1956 ई० में श्री नेहरू ने कहा, "मैं भारत का प्रधानमंत्री हूँ तथा प्रधानमंत्री सर्वश्रेष्ठ मन्त्री होता है। वह सरकार की नीति निर्धारित कर सकता है।" (I am the Prime Minister of India and the Prime Minister is Prime Minister. He can lay down the policy of the Government.) संवैधानिक तन्त्र में प्रधानमंत्री की स्थिति इतनी महत्वपूर्ण हो गई है कि कुछ लेखक तो यहाँ तक कह देते हैं, "भारत में कैबिनेट प्रणाली के स्थान पर अब प्रधानमन्त्रीय सरकार की स्थापना की गई है।" (The Prime Ministerial form of Government has replaced cabinet system of Government.)

वास्तव में प्रधानमंत्री को संविधान के अधीन विशाल शक्तियों का स्वामी बनाया गया है तथा संवैधानिक ढांचे में उसकी स्थिति सबसे महत्वपूर्ण है। लास्की के अनुसार, "वह ब्रिटिश प्रधानमंत्री के समान मन्त्रिपरिषद् के संगठन, जीवन और मृत्यु के लिए केन्द्रीय शक्ति है। प्रत्येक मन्त्रिपरिषद् कारूप तथा आकार उसकी नीति और निर्णय पर निर्भर होता है।" उसे सूर्य की उपमा दी जा सकती है, जिसके इर्द-गिर्द अन्य नक्षत्र चक्कर काटते हैं।

प्रधानमंत्री की तानाशाही: वास्तव में भारतीय प्रधानमंत्री के हाथ में अत्यन्त विशाल शक्तियां केन्द्रित हैं। उसकी इतनी अधिक शक्तियों को देखते हुए कुछ विचारकों ने यह मत प्रकट किया है कि प्रधानमंत्री तानाशाह बन सकता है। श्री के० टी० शाह के शब्दों में, "संविधान प्रधानमंत्री को इतनी अधिक शक्तियाँ तथा स्थिति प्रदान करता है कि हर समय इस बात का भय बना रहता है कि यदि प्रधानमंत्री चाहे तो वह तानाशाह बन सकता है।" (The Constitution concentrates so much powers and influence in the hands of the Prime Minister that there is every danger to apprehend that he may become a dictator if he chooses to do so.) इसी प्रकार श्री एन० वी० गाडगिल ने भी कहा है, "प्रधानमंत्री को इतनी अधिक शक्तियां सौंपी गई हैं कि यदि वह स्वभाव से लोकतन्त्रात्मक विचारों का न हो तो उसके तानाशाह बनने की सम्भावना हो सकती है।" (The Prime Minister is invested with formidable power and influence and unless he be a genuine democrat by nature, he is very likely to become a dictator.)

परन्तु यह बात हम निश्चितरूप से कह सकते हैं कि भारतीय प्रधानमंत्री के पास विशाल शक्तियाँ तो हैं, परन्तु वह तानाशाह नहीं बन सकता। जो व्यक्ति प्रधानमंत्री के तानाशाह बन जाने की सम्भावना पर बल देते हैं, वे निश्चय ही लोकतन्त्रीय व्यवस्था में दृढ़ विश्वास नहीं रखते। लोकतन्त्रीय व्यवस्था में किसी भी अधिकारी के तानाशाह बन जाने की कल्पना करना ठीक नहीं। इतिहास इस बात का गवाह है कि भारतीय प्रधानमंत्री ने अपने पद की शक्तियों का दृढ़रूप से प्रयोग तो किया, परन्तु उन्होंने कभी भी तानाशाह बनने का प्रयत्न नहीं किया।

प्रधानमंत्री की स्थिति वास्तव में उसके व्यक्तित्व पर निर्भर होती है। वास्तविकता तो यह है कि प्रधानमंत्री का पद बड़ा शक्तिशाली होता है। उसकी स्थिति बड़ी महान् है, परन्तु इतना होते हुए भी वह तानाशाह नहीं बन सकता उसकी स्थिति सही अर्थों में उसकी शक्तियों के कारण नहीं, बल्कि यह उसके व्यक्तित्व (Individual Personality) पर निर्भर करती है।

देश के वास्तविक मुखिया केरूप में कार्य करते हुए किसी व्यक्ति के तानाशाह बन जाने की कल्पना करना ठीक नहीं। प्रधानमंत्री के पास विशाल शक्तियाँ हैं, परन्तु वह तानाशाह नहीं बन सकता। लोकतन्त्रीय व्यवस्था में अधिकारी होते हुए प्रधानमंत्री ऐसा बनने की सोच भी नहीं सकता, क्योंकि उसे यह पता होता है कि लोकतन्त्रीय वातावरण में तानाशाही स्थापित करने की सोचना आत्महत्या करने के समान है।

निश्चय ही प्रधानमंत्री का पद हमारी संवैधानिक व्यवस्था में सबसे अधिक शक्तिशाली है, परन्तु इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि इस पद को, जो भी व्यक्ति प्राप्त करता है, उसे जनता के सामने लोकतन्त्र में दृढ़ विश्वास की परीक्षा में खरा उतरना होता है। जनता के लिए कल्याणकारी कार्य करके तथा चुनाव में जनता के सम्मुख उपस्थित होकर उसने जनता के विश्वास को प्राप्त किया होता है। जनता के विश्वास को सदा बनाए रखने का उत्तरदायित्व वह समझता है तथा उसका सदा यह प्रयत्न रहता है कि यह ऐसे ढंग से कार्य करे जिससे उसे जनता का विश्वास प्राप्त रहे। दूसरे शब्दों में, वह सदैव जनमत के अनुसार कार्य करता है।

प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व सदैव कड़ी निगरानी में रहता है। उसकी अपनी पार्टी के प्रतिद्वन्द्वी इस अवसर की खोज में रहते हैं कि कब उन्हें यह पद प्राप्त हो। प्रधानमंत्री सदैव एक तरफ तो यह प्रयत्न करता है कि उसके दल के विभिन्न गुटों के नेता संतुष्ट रहें, तो दूसरी ओर अपनी स्थिति को बनाए रखने में लगा रहता है। विरोधी पक्ष भी अधिक-से-अधिक प्रधानमंत्री के कार्यों तथा व्यक्तित्व में त्रुटियाँ खोजने के चक्कर में लगे रहते हैं, क्योंकि उन्हें पता

है कि उनको सफलता प्रधानमंत्री की असफलता पर ही प्राप्त हो सकती हैं प्रधानमंत्री की आलोचना करने का अर्थ है समस्त सरकार की आलोचना करना। प्रधानमंत्री भी सदैव विरोधी पक्ष से चौकन्ना रहता है। एक तरफ तो वह विरोधी पक्ष को यह विश्वास दिलाने के लिए तत्पर है तथा दूसरी ओर वह सदैव विरोधी पक्ष द्वारा की गई सरकार की प्रत्येक आलोचना का जवाब भी देता है। जेनिंग्ज के शब्दों में, "प्रधानमंत्री के पद की स्थिति उसी प्रकार बन जाती है, जैसे उस पद पर कार्य करने वाला व्यक्ति उसको बनाना चाहे।"

अभी तक भारत में वर्तमान प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी सहित 13 प्रधानमंत्री हुए हैं। 1950 में जवाहर लाल नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने थे जो उन्हें महात्मा गांधी के उत्तराधिकारी के रूप में यह पद मिला था। कांग्रेस संगठन तथा संसदीय दल में उनकी स्थिति अचुनौतीपूर्ण थी। इसलिए 1952, 1957 और 1962 के चुनावों में कांग्रेस दल का नेता होने के कारण उन्हें यह पद बार-बार मिला। उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रधानमंत्री पद की रिक्तता को जल्दी भरने के लिए राष्ट्रपति ने उसे समय के वरिष्ठतम मन्त्री गुलजारी लाल नन्दा को प्रधानमंत्री नियुक्त किया, और नेतृत्व की लड़ाई लाल बहादुर शास्त्री और मोरारजी देसाई के बीच थी। इस प्रकार कांग्रेस हाईकमान के अनुसार आम सहमति शास्त्री जी के पक्ष में होने के कारण वे कांग्रेस संसदीय दल के नेता चुने गए और प्रधानमंत्री बने। जनवरी 1966 में शास्त्री जी के निधन के बाद उत्तराधिकारी के लिए संघर्ष पुनः शुरू हुआ। पहले की तरह गुलजारीलाल नन्दा को फिर प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। इसके बाद 24 जनवरी, 1966 से 24 मार्च, 1977 तक श्रीमति इन्दिरा गांधी प्रधानमंत्री बनीं और सबसे अधिक प्रभावशाली और शक्तिशाली प्रधानमंत्री सिद्ध हुईं। दिसम्बर, 1970 और जनवरी 1977 तथा 1979 में राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री के लोकसभा को भंग करने के परामर्श को स्वीकार करने के कारण प्रधानमंत्री की स्थिति और भी मजबूत हुई।

मार्च 1977 के छठे लोकसभा चुनाव में नवीन दल, जनता पार्टी को लोकसभा में शानदार सफलता प्राप्त हुई, परन्तु जनता पार्टी विभिन्न राजनीतिक दलों से मिलकर बनी थी। इसलिए आमसहमति के लिए जननायक जयप्रकाश नारायण तथा जे०बी० कृपलानी जैसे आदरणीय राष्ट्रीय नेताओं ने मोरारजी देसाई को लोकसभा में संसदीय दल का नेता चुना और इस प्रकार पहली बार गैर-कांग्रेसी नेता प्रधानमंत्री बने। 1977-80 में अल्पमत सरकार के प्रधानमंत्री चरणसिंह की सिफारिश पर भारत में पुनः आम चुनाव हुए और इन्दिरा गांधी दोबारा प्रधानमंत्री बनीं राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने 31 अक्टूबर, 1984 को श्रीमती गांधी की निर्मम हत्या के बाद उनके पुत्र राजीव गांधी को प्रधानमंत्री बनाया और उन्होंने 2 दिसम्बर 1989 तक सक्रिय, लोकप्रिय तथा सफल प्रधानमंत्री के रूप में कार्य किया। 1989 के चुनाव में किसी दल को पूर्ण बहुमत न मिलने के कारण राजीव गांधी ने सरकार बनाने के निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। ऐसी स्थिति में एक नया प्रयोग किया गया जिनके द्वारा वी० पी० सिंह ने अल्पमत जनता दल के नेता के रूप में सरकार बनाई और यह अव्यवहारिक प्रयोग वी० पी० सिंह के द्वारा त्यागपत्र देने के कारण केवल 11 महीने तक चला। इसके बाद जो प्रयोग किया गया वह अकल्पनीय और हास्यासपद होने के साथ संसदीय प्रणाली के नाम पर एक कलक था। जिसके अन्तर्गत चन्द्रशेखर द्वारा नवगठित समाजवादी जनता पार्टी (मात्र 54 सांसद) ने सरकार बनाई और 7 महीने तक चली और फिर राष्ट्रपति ने चुनावों की घोषणा कर दी। 1991 के चुनाव में कांग्रेस पार्टी बड़े दल के रूप में उभरी परन्तु पूर्ण बहुमत नहीं मिला और इसी बीच 21 मई, 1991 को कांग्रेस के वरिष्ठ नेता पी० वी० नरसिंहराव को प्रधानमंत्री बनाया गया। उनकी सरकार ने पूरे पांच साल तक काम किया। 1996 में किसी भी दल को बहुमत न मिलने के कारण भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़े दल के रूप में उभरने पर श्री अटल बिहारी वाजपेयी को प्रधानमंत्री पद की शपथ दिलाई गई। यह सरकार मात्र 13 दिन चली और सरकार ने बिना विश्वास मत प्राप्त किए त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद 13 दलों के गठबन्धन संयुक्त मोर्चा की सरकार देवगौड़ा के नेतृत्व में बनी। यह सरकार 1 जून, 1996 से 21 अप्रैल 1997 तक चली। इसके बाद पुनः संयुक्त मोर्चा के नेता इन्द्रकुमार गुजराल के नेतृत्व में 21 अप्रैल से 19 मार्च, 1998 तक सरकार चली। फिर 19 मार्च 1998 को अटल बिहारी वाजपेयी ने दोबारा प्रधानमंत्री पद ग्रहण किया। इसके बाद तेहरवीं लोकसभा (1999)

के चुनाव में राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन को पहले की अपेक्षा अधिक सीटें मिली और श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने तीसरी बार 13 अक्टूबर, 1999 को प्रधानमंत्री पद की शपथ ली और यही सरकार आज भी कार्यरत है।

1.5.5 निष्कर्ष

भारत में प्रधानमंत्री, कैबिनेटरूपी महल की आधार की आधारशिला होता है। यद्यपि संसदीय लोकतन्त्र में प्रधानमंत्री पद की स्थिति अत्यन्त सृष्ट तथा कभी-कभी निरंकुश दिखाई देती है किन्तु भारत में राजनीतिक अस्थिरता तथा गठबन्धन सरकारों के कारण प्रधानमंत्री का पद पूर्व की भांति अब अत्यधिक शक्ति सम्पन्न नहीं रह गया है। प्रधानमंत्री द्वारा सरकार बनाए रखने के लिए अब बार-बार मन्त्रिमण्डल में फेर-बदल करने पड़ते हैं जैसे अटल बिहारी सरकार ने 24 मई 2003 में ग्यारहवां फेर-बदल किया और कई मन्त्रियों को बाहर और कईयों को मन्त्रिमण्डल में शामिल किया जैसे अजीत सिंह को कृषि मन्त्रालय से बाहर कर राजनाथ सिंह को कृषि मन्त्रालय सौंपा गया।

1.5.6 मुख्य शब्दावली

- विशेषाधिकार
- गठबन्धन
- आपातकाल
- विश्वास मत
- कैबिनेट

1.5.7 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. भारत के प्रधानमंत्री की शक्तियों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. क्या भारत का प्रधानमंत्री तानाशाह बन सकता है? टिप्पणी कीजिए।
3. गठबन्धन सरकार के बनने के बाद, प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति का विश्लेषणात्मक अध्ययन कीजिए।
4. भारत के प्रधानमंत्री के कार्यों व स्थिति का वर्णन कीजिए।

1.5.8 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Corner Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B. Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.

- A. Chanda, *Federalism in India: A Study of Union-State Relations*, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J.Harriss, *Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy*, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, *State Politics in India*, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, *India: Government and Politics in a Developing Nations*, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). *Democracy in India*, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) *Indian Government and Politics*, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, *Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability*, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, *Politics in India*, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, *Party System and Election Studies*, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, *Government and Politics in India*, Delhi, BI Publications, 1974.
- A.C. Noorani, *Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States*, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, *An Introduction to the constitution of India*, New Delhi, 1998.
- A. Ray, *Tension Areas in India's Federal System*, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). *Coalition Politics in India*, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

इकाई— 2

भारत में चुनाव सुधार व भारतीय राजनीति में प्रमुख मुद्दे

2.0 इकाई परिचय

निर्वाचन आयोग एक स्थायी व स्वतंत्र संस्था है। इसका गठन भारत के संविधान द्वारा देश में स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव कराने के उद्देश्य से किया गया था। संविधान के अनुच्छेद 324 के अंतर्गत संसद, राज्य विधानमंडल, राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति के पदों के निर्वाचन के संचालन, निर्देशन व नियंत्रण की जिम्मेदारी चुनाव आयोग की है, इस इकाई में आप भारत में स्तरीकृत सामाजिक तंत्र की व्यवस्था का अध्ययन करेंगे। भारत का संविधान राज्य से अपेक्षा करता है कि वह सभी नागरिकों के साथ उनके जन्म, लिंग और धार्मिक विश्वास की ओर ध्यान दिये बिना समान बर्ताव करे। भारतीय राजनीति की प्रमुख समस्याओं के बारे में जान पाएँगे, जिसमें धर्म व साम्प्रदायिता, भाषा, क्षेत्रीयतावाद तथा गरीबी। भारत में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख व ईसाई धर्मों के समुदायों के बारे में समझ पाएँगे सामुहिकता की अवधारणा पर आधारित भाषा के कारण परस्पर जुड़े अभेदवाद संबंधी दावों का आरंभ कांग्रेस की स्वतंत्रता पूर्व की राजनीति से है जिसमें स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया था। भारत में स्वतंत्रता उपरांत भी राज्यों के आकार, पहचान व अभिलक्षण में काफी बड़ा बदलाव देखा गया। नए राज्यों के संविधान, उनके विलय और उनकी क्षेत्रीय सीमाओं में परिवर्तन की सुविधा संविधान के अनुच्छेद-3 द्वारा प्रदान की गई है। प्रत्येक इकाई में अभ्यास प्रश्न भी दिए गए हैं। प्रत्येक इकाई को पढ़ने के बाद आप इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास कर सकते हैं। पाठ्यक्रम के अंत में कुछ महत्वपूर्ण संदर्भ सूची भी दी गई है। आपको सलाह दी जाती है कि आप इसका इस्तेमाल करें।

2.1 इकाई उद्देश्य

- भारतीय चुनाव आयोग के बारे में जानना।
- भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका को समझना।
- धर्म व साम्प्रदायिकता के बारे में जानना।
- भारतीय राजनीति में भाषा की प्रमुखता को जानना।
- क्षेत्रीयतावाद के बारे में जानना।
- गरीबी उन्मूलन के संदर्भ में भारतीय राजनीति के प्रमुख कार्यक्रमों को जानना।

2.2 भारत में चुनाव सुधार (Electoral Reforms in India)

2.2.1 परिचय

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है और संविधान के लागू होने से लेकर देश में तरह आम चुनाव व अनेक विधान सभा चुनाव हो चुके हैं, जिनके द्वारा मतदाताओं ने कई बार सत्ता परिवर्तन भी किया है। परन्तु फिर भी यहां की चुनाव प्रणाली में बहुत सी खामियां हैं, जिनसे चुनावों के प्रति लोगों की आस्था कम होती जा रही है। यदि इन खामियों को दूर नहीं किया गया तो आने वाले समय में चुनावों से जनता का विश्वास पूर्णरूप से उठ जाएगा। चुनावों में काल धन, बाहुबल का प्रयोग, हिंसा, मतदान केन्द्रों पर कब्जा, सरकारी मशीनरी का दुरुपयोग, फर्जी मतदान, चुनाव नियमों का उल्लंघन, चुनाव अधिकारियों द्वारा पक्षपात तानि निर्वाचन अधिकारियों पर

राजनीतिक दबाव आदि ये ऐसी प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही है। एल० एम० सिंधवी के अनुसार, “हमारे संविधान ने आधुनिक उदारवादी दर्शन के सार, तत्व सार्वभौम व्यस्क मताधिकार को अपनाया है, परन्तु इसके पूरे अर्थ का अभी उद्घाटन होना है, अभी इसे न्याय, स्वतंत्रता तथा क्षमता के उदात्त लक्ष्यों की सिद्धि का शासन बनाना शेष है। यदि हमें इस महत् तथा भव्य आदर्श को यथार्थ के धरातल पर लाना है, तो हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपने निर्वाचन-प्रक्रमों के वास्तविक स्वरूप तथा त्रुटियों एवं विकृतियों का परिचय प्राप्त करें और उनकी शुद्धता की रक्षा के लिए पृथक् प्रयास करें।” इन त्रुटियों को दूर करके भारत की लोकतांत्रिय व्यवस्था को और भी अधिक मजबूत किया जा सकता है।

2.2.2 उद्देश्य

- चुनाव आयोग के स्वतंत्र व निष्पक्ष कार्यों को समझना।
- भारतीय चुनाव आयोग के संगठन के बारे में जानना।
- चुनाव सुधार अध्यादेशों के बारे में जानना।
- चुनाव आयोग के कार्यों का मूल्यांकन करना।

चुनावों से सम्बन्धित इन समस्याओं को देखते हुए इनके विवेचन तथा सुधार के लिए समय-समय पर अनेक समितियों को गठित किया गया है। जिनमें से सर्वप्रथम तारकुण्डे समिति ने चुनाव सुधारों की तरफ ध्यान दिया। इसके बाद 1990 में श्री दिनेश गोस्वामी की अध्यक्षता में गठित समिति ने चुनाव सुधारों पर अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किए। मुख्य निर्वाचन आयुक्त (सेवा शर्त) अधिनियम 1991 तथा लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम 1996 से इस समिति की अनेक सिफारिशों लागू हो गई है। इसलिए चुनाव सुधारों से सम्बन्धित समितियों तथा अधिनियमों का उल्लेख निम्नलिखित है:

चुनाव सुधार से सम्बन्धित अध्ययन के लिए सिटिजन्स फॉर डेमोक्रेसी (Citizens for Democracy) नामक संगठन की तरफ से सन् 1974 में श्री जयप्रकाश नारायण ने समिति का गठन किया, जिसके अध्यक्ष महाराष्ट्र उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री वी० एम० तारकुण्डे थे। इस समिति का मुख्य लक्षण चुनावों से सम्बन्धित कमियों को दूर करना था, उनकी मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित हैं:—

1. मताधिकार 21 वर्ष के बजाय 18 वर्ष की आयु में ही दे दिया जाए।
2. आय के स्रोतों का उल्लेख तथा आय-व्यय का पूरा हिसाब लिखना समस्त राजनीतिक दलों के लिए अनिवार्य कर दिया जाए और निर्वाचन आयोग इसकी जांच कराये। उम्मीदवारों के चुनाव-खर्च के हिसाब की जांच करायी जाये। राजनीतिक दलों द्वारा उम्मीदवारों पर किया जाने वाला खर्च उम्मीदवारों के हिसाब से जोड़ा जाये तथा चुनाव खर्च की वर्तमान सीमा को दुगुना कर दिया जाये।
3. प्रत्येक उम्मीदवार को सरकार की ओर से छपे हुए मतदान-कार्ड निःशुल्क दिये जायें तथा प्रत्येक मतदाता के नाम का कार्ड बिना टिकट लगाये डाक से भेजने की छूट दी जाये। इसके अलावा प्रत्येक उम्मीदवार को छूट हो कि वह अपने निर्वाचन-क्षेत्र के प्रत्येक मतदाता के नाम 50 ग्राम तक प्रचार सामग्री डाक से निःशुल्क भेज सके। निर्वाचन-क्षेत्र के मतदाताओं की सूचियों की 12 प्रतियाँ प्रत्येक उम्मीदवार को सरकार की ओर से निःशुल्क दी जायें।
4. जो लोग राजनीतिक दलों को वर्ष में एक हजार रुपया दान दें, उन्हें इस राशि पर आय कर की छूट दी जाये तथा कम्पनियों पर यह प्रतिबन्ध जारी रखा जाए कि वे राजनीतिक दलों को दान नहीं दे सकती।

कम्पनियों द्वारा विज्ञापनों के रूप में राजनीतिक दलों को दी जाने वाली सहायता पर भी पाबन्दी जगायी जाये।

5. लोकसभा अथवा विधानसभा के विघटन और नये चुनावों की घोषणा के बाद से सरकार कामचलाऊ सरकार की तरह काम करे वह न नयी नीतियों की घोषणा करे, न उन्हें लागू करे, न नयी परियोजनाएं चालू करे, न उनका वादा करे, न नये ऋण अथवा भत्ते दे और न वेतन वृद्धि की घोषणा करे तथा ऐसे सरकारी समारोह आयोजित न करे, जिसमें मन्त्री, राज्यमन्त्री, उपमन्त्री अथवा संसदीय सचिव भाग लें।
6. चुनाव के दौरान मन्त्रिमण्डल के सदस्य सरकारी खर्च पर यात्रा न करें। सरकारी सवारी और विमान प्रयोग में न लायें, उनकी सभाओं के लिए सरकारी मंच न बनायें और उनके दौरों के समय सरकारी कर्मचारी तैनात न किए जायें।
7. जमानत की रकम लोकसभा के उम्मीदवारों के लिए 500 से बढ़ाकर 2,000 रुपये और विधानसभाओं के उम्मीदवारों के लिए 200 से बढ़ाकर 1,000 रुपये कर दी जाये।
8. आकाशवाणी के सम्बन्ध में 'चन्दा समिति' की रिपोर्ट पर अमल किया जाये तथा आकाशवाणी को निगम कारूप दिया जाये। जिस तरह ब्रिटेन में बी. बी. सी. पर राजनीतिक दलों को पिछले चुनावों में प्राप्त भत्तों के अनुपात में प्रचार का समय दिया जाता है, उसी प्रकार भारत में भी उन्हें रेडियो और टेलिविजन पर समय दिया जाये।
9. राज्यों में निर्वाचन आयोग स्थापित किये जायें, केन्द्रीय निर्वाचन आयोग में एक के बजाय तीन सदस्य हों तथा उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति केवल प्रधानमंत्री के परामर्श पर नहीं अपितु तीन व्यक्तियों की एक समिति की सिफारिश पर करें। इस समिति में प्रधानमंत्री, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा लोकसभा में विरोध पक्ष का नेता अथवा विरोध पक्ष का प्रतिनिधि हों।
10. निर्वाचन आयोग की सहायता के लिए केन्द्र और राज्यों में निर्वाचन परिषदें बनायी जायें, जो उसे सलाह दें। इन परिषदों में विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि हों। इनके अलावा 'मतदाता परिषदें' भी बनायी जायें, जो निर्वाचन को समय होने वाली बुराइयों पर निगाह रखें तथा निर्वाचकों की निष्पक्षता की रक्षा करें।

22 अप्रैल, 1975 को प्रधानमंत्री के साथ चर्चा के समय आठ राजनीतिक दलों की ओर से भारत को एक संयुक्त स्मरण पत्र दिया गया, जिसमें निर्वाचन से सम्बन्धित निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया था:—

1. विशेषज्ञों की एक ऐसी समिति नियुक्त की जाये, जो वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली का ऐसा विकल्प तलाशे जिससे जनता की इच्छा चुनाव-परिणामों में अधिक प्रामाणिकता के साथ 'प्रतिबिम्बित' हो सके।
2. मताधिकार प्राप्ति की आयु 21 के बजाय 18 वर्ष मानी जाये।
3. आम निर्वाचनों के बीच उठने वाले सार्वजनिक प्रश्नों पर संविधान में लोकनिर्णय (रेफरेण्डम) की व्यवस्था की जाये।
4. प्रतिनिधियों के प्रत्यावर्तन का सिद्धान्त अच्छा है, लेकिन एक सर्वदलीय समिति बनाकर उसे इस बारे में सिफारिश करने का काम सौंपा जाये।
5. निर्वाचन आयोग बहु-सदस्यीय हो तथा उसकी नियुक्त तीन सदस्यों की चयन समिति की सिफारिश के आधार पर करे, इस समिति में प्रधानमंत्री, भारत के मुख्य न्यायाधीश और विरोधी दल का नेता या प्रतिनिधि हों।
6. मुख्य निर्वाचन आयुक्त राज्यों अथवा क्षेत्रों के लिए स्थायी निर्वाचन आयोग नियुक्त करे।

7. चुनावों में गड़बड़ की शिकायतों की जांच के लिए केंद्र और राज्यों में जनता के प्रतिनिधियों और प्रमुख निर्दलीय व्यक्तियों की निर्वाचन परिषदें कायम की जायें और उन्हें वैधानिक स्तर दिया जाये।
8. आकाशवाणी और टेलीविजन को निगम कारूप दिया जाये और उन पर सभी राजनीतिक दलों का प्रचार के लिए बराबर समय दिया जाये।
9. देश-भर में एक दिन में ही चुनाव कराया जाये, हर मतदाता-केंद्र पर केवल एक मतपेटी हो और मतगणना केन्द्र-बार हो।

61वें संविधान संशोधन, 1988 द्वारा संविधान के अनुच्छेद 326 में संशोधन कर मतदान की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई है।

1990 में श्री दिनेश गोस्वामी की अध्यक्षता में चुनाव सुधारों के सम्बन्ध में एक समिति का गठन किया गया और इस समिति अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किए, जिनमें से प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं:-

1. निर्वाचन आयोग तीन सदस्यीय निकाय होना चाहिए। जो 1 अक्टूबर, 1993 को तीन सदस्यीय निकाय बना दिया गया।
2. दल-बदल कानून के अन्तर्गत अयोग्यता, केवल स्वेच्छा से त्यागपत्र देने और विश्वास प्रस्ताव, धन विधेयक अथवा राष्ट्रपति के धन्यवाद प्रस्ताव के मामलों में दल-सचेतक के विरुद्ध मतदान करने या अनुपस्थिति रहने को ही माना जाना चाहिए। इस बारे में अभी तक कोई अन्तिम निर्णय नहीं लिया गया है।
3. बहुउद्देशीय फोटो पहचान पत्र प्रदान करना इस योजना को सरकार ने स्वीकार कर लिया और 28 अगस्त, 1993 को मुख्य निर्वाचन आयुक्त टी० एन० षेण ने यह आदेश जारी किया कि 1 जनवरी, 1995 के बाद हाने वाले प्रत्येक चुनाव में हर नागरिक के पास अपना फोटो पहचान पत्र का होना जरूरी होगा।
4. किसी भी व्यक्ति को दो से अधिक निर्वाचन क्षेत्रों पर चुनाव लड़ने की अनुमति न देना। इस सिफारिश को लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, 1996 के अन्तर्गत लागू किया गया है।
5. मुख्य निर्वाचन आयुक्त और अन्य निर्वाचन आयुक्तों का कार्यकाल 5 वर्ष या 65 वर्ष की आयु तक जो भी बाद में हो, होना चाहिए और किसी भी हाल में 65 वर्ष की आयु या 10 वर्ष से अधिक समयावधि तक उन्हें पद पर नहीं बन रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य निर्वाचन आयुक्तों की (सेवा-शर्तें) संशोधन अधिनियम, 1994 में इनका कार्यकाल 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु, जो भी पहले हो, निर्धारित कर दिया गया है।
6. कम गंभीर उम्मीदावारों को हतोत्साहित करना। स्वतंत्र उम्मीदवारों की जमा राशि को बढ़ाया जायें इस सम्बन्ध में लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, 1996 के तहत प्रावधान किया गया है।
7. मतदान केन्द्रों पर कब्जा करने तथा मतदाताओं को प्रभावित करने और डराने-धमकाने से छुटकारा पाने के लिए विधायी उपाय करने चाहिए। इस सम्बन्ध में भी लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, 1996 के तहत प्रावधान किया गया है।
8. मतदान के दिन मोटर गाड़ियां चलाना, आग्नेय शस्त्र लेकर चलना, शराब की बिक्री और वितरण चुनावी अपराध होना चाहिए। यह प्रावधान भी लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, 1996 में किया गया है।
9. मतदाता सूची को तैयार करने, अद्यतन करने, आदि सम्बन्धी सरकारी ड्यूटी का उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए।

10. आयोग के पर्यवेक्षकों को कानूनी हैसियत प्रदान करना। और उन्हें कुछ हालातों में मतगणना रोकने के अधिकार दिए जाने चाहिए।
11. मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों के सभी उम्मीदवारों को मत-पत्र में दूसरे सभी उम्मीदवारों से ऊपर रखना चाहिए।
12. स्थान रिक्त होने की 6 महीने की अवधि के अन्दर उप-चुनाव होना चाहिए।
13. चुनाव सभाओं में व्यवधान उत्पन्न करने पर सजा को बढ़ाया जाना चाहिए।
14. किसी भी मतदान केन्द्र पर मतदाताओं को निशुल्क ले जाने के लिए वाहनों को अवैधरूप से किराए लेने पर दण्ड को बढ़ाया जाना चाहिए।
15. मतदान की समाप्ति से 48 घण्टे पहले चुनाव के सम्बन्ध में जुलूस या आम बैठकें करने की मनाही होनी चाहिए।
16. लोक प्रतिनिधित्व, 1951 की धारा 135 में संशोधन होना चाहिए।
17. प्राधिकृत व्यक्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति के लिए शस्त्र लेकर मतदान केन्द्र के नजदीक जाने की रोक होनी चाहिए।
18. मतदान के दिन किसी औद्योगिक उपक्रम अथवा संस्था के कर्मचारियों को वेतन सहित अवकाश मिलना चाहिए।
19. राष्ट्रीय मान अधिनियम, 1971 की धारा 2 और 3 के अन्तर्गत दोषी पाए जाने पर, दोषी जाने की तिथि से 6 वर्ष की समयावधि के लिए अयोग्य करार दिया जाना चाहिए।
20. मतदान के दिन मतदान केन्द्र के अन्दर किसी भी भोजनालय आदि में शराब या अन्य कोई नशीला प्रदार्थ बेचने अथवा वितरण पर रोक लगाई जानी चाहिए।
21. किसी भी स्वतंत्र उम्मीदवार के निधन पर चुनाव रद्द न होना चाहिए।
22. वर्तमान चुनाव प्रणाली में परिवर्तन के प्रश्न पर आगे और विचार करने के लिए एक विशेषज्ञ समिति का गठन किया जाना चाहिए।
23. सभी चुनावी मुद्दों की जांच के कार्य के लिए संसद की एक स्थायी समिति का गठन होना चाहिए।
24. मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को एक निश्चित सीमा तक राज्य की और से धनराशि मिलनी चाहिए।
25. डाले गए मतों के एक चोथाई भाग से कम मत प्राप्त करने पर उम्मीदवार की जमा राशि जब्त करनी चाहिए।
26. वर्ष 1981 की जनगणना के आधार पर नया परिसीमन करना तथा अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित सीटों में क्रमावर्तन करना चाहिए।
27. आदर्श आचार संहिता के महत्वपूर्ण प्रावधानों के लिए सांविधिक समर्थन देना चाहिए।
28. मुख्य निर्वाचन आयुक्त और निर्वाचन आयुक्तों को न केवल सरकार के अन्तर्गत किसी नियुक्ति बल्कि राज्यपाल के पद सहित किसी अन्य पद के लिए आयोग्य घोषित करना चाहिए।

29. मुख्य निर्वाचन आयुक्त की नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायाधीश और विपक्ष के नेता के साथ विचार-विमर्श से की जानी चाहिए। और अन्य सदस्यों की नियुक्ति मुख्य निर्वाचन आयुक्त के विचार विमर्श पर की जानी चाहिए।
30. भविष्य में होने वाले सभी चुनावों में इलैक्ट्रॉनिक मशीन का प्रयोग होना चाहिए। इस सम्बन्ध में लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में मार्च, 1992 में विशेषज्ञ प्रावधान के द्वारा इलैक्ट्रॉनिक मशीन का चुनावों में प्रयोग का अधिकार दिया गया और नवम्बर, 1998 में हुए विधान चुनावों में इस मशीन का प्रयोग किया गया।

नोट:-

1. प्वाइंट 6 से 21 तक सिफारिशों से सम्बन्धित प्रावधान लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, 1996 में किए गए हैं।
2. प्वाइंट 22 से 29 तक अभी तक कोई निर्णय नहीं लिया गया है।

31 जुलाई, 1996 को संसद द्वारा चुनावों से सम्बन्धित बिल पास कर लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 में संशोधन किया गया है, जो लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1996 बना जिसके द्वारा श्री दिनेश गोस्वामी की अध्यक्षता वाली समिति की अनेक सिफारिशें लागू की गईं।

लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1996 द्वारा अधिनियमित किए गए चुनावी सुधारों पर प्रस्ताव

1. मतदाता सूची को तैयार करने सम्बन्धी सरकारी ड्यूटी का उल्लंघन करने पर दण्ड का बढ़ावा जाना।
2. राष्ट्र गौरव अपमान निवारण अधिनियम, 1971 की धारा 2 और 3 के अन्तर्गत दोषी जाए गए व्यक्तियों को अयोग्य घोषित करना।
3. भारत के निर्वाचन आयोग द्वारा नियुक्त पर्यवेक्षकों को सांविधिक समर्थन देना और उन्हें यह अधिकार देना कि वे स्टिर्निंग अधिकारी को यह निर्देश दे सकें कि यदि बहुत बड़े पैमाने पर मतदान केन्द्रों पर कब्जा हुआ है तो भारत के निर्वाचन आयोग के निर्णय के लम्बित रहने तक मतगणना और परिणाम की घोषणा रोक दी जाए।
4. न्यूनतम प्रचार अवधि को घटाकर 14 दिन कर दिया जाए।
5. प्रतिमूर्ति राशि को बढ़ाना और स्वतंत्र उम्मीदवार के मामले में प्रस्तावकों की संख्या 10 की जाए।
6. एक उम्मीदवार को एक श्रेणी के दो से अधिक निर्वाचन क्षेत्रों से चुनाव लड़ने पर प्रतिबन्ध लगाना।
7. मतदान पत्र पर मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों के उम्मीदवारों के नाम स्वतंत्र उम्मीदवारों के नामों से पहले रखना।
8. मान्यता प्राप्त राजनीतिक दल के उम्मीदवार के निधन के मामले में भी चुनाव रद्द (काउन्टरमांड) ने किया जाए।
9. चुनाव समाप्त होने से 48 घण्टे पहले चुनाव सम्बन्धी सार्वजनिक सभाओं और अन्य प्रकार से चुनाव प्रचार करने पर प्रतिबन्ध लगाने से सम्बन्धित प्रावधान का विस्तार करना।
10. चुनाव सभाओं में गड़बड़ी करने पर दण्ड को बढ़ाना और अपराध को संज्ञेय बनाना।
11. मतदान केन्द्र पर मतदाताओं को लाने और वापस भेजने के लिए निःशुल्क सवारी उपलब्ध करने के लिए किसी वाहन को किराए पर लेने अथवा हासिल करने के अपराध की सजा को बढ़ाना।

12. मतदान के दिन मतदान केन्द्र पर तथा उसके नजदीक शस्त्र लेकर जाने पर प्रतिबन्ध लगाना और इसे चुनावी अपराध बनाना।
13. मतदान केन्द्र से मतपत्रों के हटाने के अपराध के प्रावधान का विस्तार करना।
14. मतदान केन्द्रों पर कब्जा करने के अपराध का विस्तार करना और इस अपराध को संज्ञेय बनाकर इसके लिए दण्ड का बढ़ाया जाना।
- 15.1(1) मतदान के दिन किसी व्यावसायिक, व्यापारिक औद्योगिक उपक्रम अथवा संस्थान के कर्मचारियों को वेतन सहित अवकाश देना।
- 15.1(2) मतदान समाप्त होने से 48 घण्टे पूर्व शराब की बिक्री/वितरण पर प्रतिबन्ध लगाना।
16. 6 महीने की अवधि के भीतर उप-चुनाव कराना।

1998 में श्री अटल बिहारी वाजपेयी सरकार के सत्ता में आने पर दिनेश गोस्वामी समिति की कार्यान्वित नहीं हो जाने वाली सिफारिशों पर प्राथमिकता के आधार पर विचार विमर्श शुरू हुआ। गृहमंत्री की पहल पर उन प्रस्तावों पर नए सिरों से चर्चा करने के लिए 22 मई, 1998 को विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं के साथ एक बैठक में लिए गए निर्णयों का सारांश इस प्रकार है:—

1. वर्तमान में संसदीय ओर विधानसभा निर्वाचन-क्षेत्रों की संख्या जारी रहेगी जब कि वर्तमान संवैधानिक उपबन्धों के अनुसार नया परिसीमन तय नहीं हो जाता है।
2. लोकसभा और विधानसभाओं का चुनाव लड़ने के लिए उम्र घटाकर 21 वर्ष और विधानपरिषदों और राज्यसभा के चुनावों के लिए उम्र घटाकर 25 वर्ष कर दी जाए।
3. एक प्रत्याशी को दो निर्वाचन क्षेत्रों से चुनाव लड़ने के लिए वर्तमान स्थिति को जारी रखना और फिलहाल इसे एक क्षेत्र तक सीमित नहीं किया जाए।
4. लोक प्रतिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 8-क के सम्बन्ध में यथास्थिति बनाये रखी जाए।
5. जमानत राशि बचाने के लिए डाले जाने वाले उपेक्षित वोटों की न्यूनतम संख्या के सम्बन्ध में यथास्थित बनाए रखना।
6. मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों का राज्य विधीयन उपलब्ध कराने के लिए ठोस उपायों का सुझाव देने तथा राजनीतिक दलों द्वारा लेखों के रख-रखाव तथा उनकी लेखपरीक्षा करने, राजनीतिक दलों को कम्पनियों द्वारा दिए जाने वाले चन्दे पर प्रतिबन्ध लगाने, चुनाव खर्चों पर रोक के लिए प्रत्याशियों के चुनाव खर्च में राजनीतिक दलों के खर्चों को शामिल करने तथा प्रत्येक आम चुनाव से पहले भारत के निर्वाचन आयोग को चुनाव खर्च की अधिकतम सीमा निर्धारित करने की शक्ति प्रदान करने सम्बन्धी प्रस्तावों के सम्बन्ध में सिफारिश करने के लिए श्री इन्द्रजीत गुप्त, संसद सदस्य की अध्यक्षता में एक समिति का गठन करना।
7. भारत के निर्वाचन आयोग से अनुरोध किया जाए कि वह राजनीतिक दलों के परामर्श से आदर्श आचार संहिता की पुनरीक्षा करके उसको सपुनः तैयार करे।
8. निर्वाचन आयोग से अनुरोध किया जाए कि वह राजनीतिक दलों के परामर्श से चुनाव चिन्हों के आरक्षण और आबंटन के सम्बन्ध में अपने आदेश की पुनरीक्षा करे।
9. मतदान को अनिवार्य नहीं बनाया जाये।

22 मई, 1998 की विभिन्न दलीय बैठक में लिए गए एक निर्णय के आधार पर श्री इन्द्रजीत गुप्त, संसद सदस्य की अध्यक्षता में एक उच्च अधिकारी प्राप्त समिति गठित की गई थी जिसे मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को राज्य निधिकरण उपलब्ध कराने के लिए ठोस उपायों को सुझाव देने को कहा गया।

इस समिति ने अपनी रिपोर्ट 14 जनवरी, 1999 को पेश की जिसकी मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित हैं:-

- राजनीतिक दलों द्वारा लेखों के रख-रखाव तथा उनकी लेखा परीक्षा होनी चाहिए।
- राजनीतिक दलों को कम्पनियों द्वारा दिए जाने वाले चन्दे पर रोक लगानी चाहिए।
- राजनीतिक दलों द्वारा 10000 रुपये से ज्यादा के चन्दों को बैंक या ड्राफ्ट के रूप में लेना चाहिए।
- चुनाव व्यय सम्बन्धी प्रत्याशियों के चुनाव खर्च की अधिकतम सीमा में राजनीतिक दलों के खर्चों को शामिल किया जाना चाहिए।
- राजनीतिक दलों को प्रत्येक वर्ष के लेखे आयकर अभिकरण को जमा कराने चाहिए।

जीवन रैड्डी समिति, 1999

न्यायमूर्ति जीवन रैड्डी की अध्यक्षता में भारतीय कानून आयोग ने चुनाव सुधार के लिए मूलभूत सुझाव दिए जो इस प्रकार हैं:-

1. आंशिक सूची व्यवस्था शुरू की जाए और उन दलों को समाप्त कर दिया जाए जो कुल मतों का 5 प्रतिशत भी प्राप्त न कर पाए।
2. यदि कोई भी सांसद चुनाव से पहले किए गए गठबन्धन को छोड़ता है तो उसकी सीट जब्त कर ली जाए।
3. प्रधानमंत्री के खिलाफ अविश्वास का प्रस्ताव तब तक पास नहीं किया जाना चाहिए, जब तक उसका उत्तराधिकारी लोकसभा में अपना विश्वास प्रकट न कर दे।
4. लोकसभा तथा राज्य की विधानसभाओं की सदस्य संख्या में 25 प्रतिशत बढ़ोतरी की जाए।
5. स्वतन्त्र उम्मीदवारों पर प्रतिबन्ध लगाया जाए।
6. दल-बदल विरोध कानून से स्प्लिट या समायोजन का प्रावधान समाप्त किया जाए।
7. जिन पर गंभीर अपराधों के लिए न्यायालय में आरोप पत्र दाखिल हो चुका है, उसे चुनाव न लड़ने दिया जाए।
8. संविधान की धारा 331 को समाप्त कर दिया जाए जिसके तहत एंग्लो-इंडियन समुदाय के दो सदस्य मनोनीत किए जाते हैं।

चुनाव-सुधार अध्यादेश, 2002

लोक प्रतिनिधित्व संशोधन अध्यादेश 24 अगस्त 2002 को लागू किया गया है, जिसके तहत:-

1. यदि किसी व्यक्ति को फौजदारी मामले में 2 वर्ष का कारावास हो गया है तो वह चुनाव लड़ने के अयोग्य होगा।
2. चुनाव के फौरन पश्चात् सभी चुने हुए सदस्य अपनी सम्पदा की घोषणा स्वीकर को कर देंगे।

सर्वोच्च न्यायालय निर्णय, 2002

28 अक्टूबर, 2002 को सर्वोच्च न्यायालय ने चुनाव आयोग के गुजरात में चुनावों को स्थगित करने के निर्णय को उचित ठहराते हुए कहा कि चुनाव संचालन का कार्य पूर्णतया चुनाव आयोग के क्षेत्राधिकार में ही है।

निर्वाचन आयोग

भारत में संसदीय लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली की स्थापना की गई है, जिसमें जनता एक निश्चित समय के लिए अपने प्रतिनिधित्वों का चुनाव करती है। चुनाव व्यवस्था लोकतान्त्रिक व्यवस्था का प्राण है। प्रत्येक शासन व्यवस्था में किसी न किसी प्रकार की चुनाव-प्रक्रिया के महत्व को स्वीकार किया जाता है, किन्तु निर्वाचन प्रक्रिया तथा उस प्रक्रिया का संचालन करने वाली मशीनरी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का बुनियादी आधार है। लोकतन्त्र में यह महत्वपूर्ण नहीं है कि चुनाव होते हैं बल्कि इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि चुनाव किस प्रकार होते हैं, चुनाव कितने निष्पक्ष होते हैं और प्रत्येक मतदाता का निर्वाचन व्यवस्था का संचालन करने वाले अभिकरण की निष्पक्षता तथा ईमानदारी पर कितना विश्वास है। भारतीय संविधान सभा में हृदयनाथ कुंजरू ने चुनाव-तन्त्र के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि, “अगर चुनाव तन्त्र दोष पूर्ण है या कुशल नहीं है या गैर-ईमानदार लोगों द्वारा संचालित होता है तो प्रजातन्त्र उत्पत्ति के स्रोत पर ही विषमय हो जाएगा, जनता चुनावों में यह सीखने के बदले कि वह अपने मतों का प्रयोग किस प्रकार करे, और उनका न्यायपूर्ण मतदान किस प्रकार संविधान में परिवर्तन और प्रशासन में सुधार ला सकता है, वह केवल यह जानने लगती है कि किस प्रकार षड्यन्त्रों पर आधारित दलों का निर्माण किया जा सकता है और अपने आप लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किन-किन गलत तरीकों को अपनाया जा सकता है।”

संविधान में सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के लिए उपबंध किया गया है। प्रत्येक नागरिक को, जिसकी आयु 18 वर्ष है, मत देने का अधिकार प्रदान किया गया है। नागरिक मताधिकार का प्रयोग चुनाव के माध्यम से करते हैं। चुनावों को निष्पक्ष एवं निर्बंध करवाने के लिए एक स्वतन्त्र प्राधिकरण के अधीक्षण और निर्देशन की जरूरत पड़ती है और यह प्राधिकरण निर्वाचन आयोग कहलाता है। भारत जैसे विशाल आकार वाले, भारी जनसंख्या वाले तथा इतने अधिक मतदाताओं वाले देश में निर्वाचन करवाना एक बहुत बड़ा कार्य है। यहाँ केन्द्र, प्रदेश तथा स्थानीय स्तर पर आए दिन चुनाव होते रहते हैं। इसलिए जल्दी-जल्दी चुनाव होने और राजनीतिक दलों में विभाजन से देश का निर्वाचन आयोग एक ऐसा सत्ता केन्द्र के तौर पर उभर रहा है, जो चुनाव के पहले राजनीतिक दलों में विभाजन से देश का निर्वाचन आयोग एक ऐसा सत्ता केन्द्र के तौर पर उभर रहा है, जो चुनाव के पहले राजनीतिक दलों के आचारण और सरकार के कामकाज पर कड़ी नजर रखता है। स्वतन्त्र निर्वाचन तन्त्र के महत्व को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान के एक पृथक अध्याय अनुच्छेद 324 से 329 में निर्वाचन तन्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवस्था की गई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अब तक भारत में सम्पन्न हुए तेरह लोकसभा तथा विभिन्न राज्यों के विधानमंडलों को चुनावों को सम्पन्न कराने में निर्वाचन आयोग ने जिस क्षमता का परिचय दिया है, उसकी देश-विदेश में भारी प्रशंसा हुई है। जैसे अक्टूबर 2002 में जम्मू एवं कश्मीर विधानसभा के चुनावों को जिस तत्परता और सुचारुरूप से सम्पन्न किया गया है, उससे निर्वाचन आयोग तथा मुख्य चुनाव आयुक्त जे०एम० लिंगदोह की निष्पक्षता, दृढ़ता और कार्य कुशलता की पूरी-पूरी प्रशंसा की गई है।

2.2.3 भारत में चुनाव आयोग: संरचना एवम् संगठन

संवैधानिक प्रावधान

भारतीय संविधान की धारा 324 (2), (3) और (4) में निर्वाचन आयोग की रचना तथा संगठन का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है:-

- (अ) निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा कुछ अन्य निर्वाचन आयुक्त होंगे, जिनकी संख्या राष्ट्रपति समय-समय पर निर्धारित करेगा। चुनाव आयोग के समस्त सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति संसद द्वारा इस सम्बन्ध में निर्मित कानून की धाराओं के अनुसार करेगा। अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति होने की अवस्था में मुख्य निर्वाचन आयुक्त चुनाव आयोग का सभापति होगा।

- (ब) चुनाव आयोग की सहायता के लिए लोकसभा व राज्य विधानमण्डलों के चुनावों से पूर्व राष्ट्रपति को प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्त नियुक्त करने का अधिकार होगा।
- (स) राष्ट्रपति संसद् द्वारा इस सम्बन्ध में निर्मित कानून के अनुसार निर्वाचन आयुक्तों तथा प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तों के कार्यकाल तथा सेवाकाल सम्बन्धी शर्तें भी निश्चित करेगा।

व्यवहारिक स्थिति

सन् 1951 में पहली बार संविधान के अन्तर्गत निर्वाचन आयोग का गठन किया गया और उसी समय से निर्वाचन आयोग 'एक सदस्यीय आयोग' के रूप में कार्य करता रहा। 1952 में आम चुनावों के संचालन हेतु दो प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति की गई। प्रादेशिक निर्वाचन उपयुक्तों की व्यवस्था को लाभदायक नहीं समझा गया और द्वितीय आम-चुनाव के समय इसे निरस्त कर दिया गया। सन् 1956 में प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्तों के स्थान पर उपनिर्वाचन आयुक्त के पद सृजित किये गए। विभिन्न चुनावों में उपनिर्वाचन आयुक्त के पद का उपयोग किया जाता रहा है। वैसे यह संवैधानिक पद नहीं है, इसका उल्लेख जन प्रतिनिधि अधिनियम में किया गया है। सन् 1957, 1962 तथा 1967 के निर्वाचनों का संचालन करने हेतु दो उपनिर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की गई है। 1969 के मध्यावधि चुनावों के समय मुख्य निर्वाचन आयुक्त को सहायता देने के लिए केवल एक ही उप-निर्वाचन आयुक्त, अपर सचिव, शोध अधिकारी, आदि पद उपलब्ध कराए गए हैं।

16 अक्टूबर 1989 को राष्ट्रपति ने निर्वाचन आयोग को और अधिक मजबूत बनाने के लिए दो निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की। परन्तु 2 जनवरी 1990 को राष्ट्रपति ने चुनाव आयुक्तों के रूप में श्री एस०एस० धनोवा तथा श्री वी०एल० सैगल की नियुक्तियों को रद्द कर दिया, इसके साथ ही बहुसदस्यीय आयोग फिर एक सदस्यीय हो गया। अक्टूबर, 1993 में केन्द्र सरकार ने दो नए चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति पर चुनाव आयोग को तीन सदस्यीय बनाने का महत्वपूर्ण कदम उठाया। राष्ट्रपति ने अध्यादेश जारी कर कृषि सचिव जी०वी०जी० कृष्णमूर्ति का चुनाव आयुक्त नियुक्त किया। चुनाव आयोग को बहुसदस्यीय बनाने सम्बन्धी विधेयक को संसद ने 20 दिसम्बर 1993 को पास कर दिया। 14 जुलाई 1995 को सर्वोच्च न्यायालय ने अपना ऐतिहासिक फैसला सुनाते हुए टी०एन० शेषन का यह दावा रद्द हो गया कि वह चुनाव आयोग में सर्वोच्च हैं। अपने फैसले के साथ ही न्यायालय ने यह आशा व्यक्त की कि आयोग के सदस्य अब एक-दूसरे के प्रति सन्देह की भावना से ऊपर उठकर सद्भावना पूर्ण वातावरण में कार्य करेंगे।

2.2.4 कार्यकाल तथा सेवा सम्बन्धी शर्तें

सन् 1972 से पहले मुख्य निर्वाचन आयुक्त के कार्यकाल और सेवा शर्तें के बारे विशेष व्यवस्था नहीं थी। परन्तु 1972 में यह कानून बना दिया गया कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त अपने पद पर 65 वर्ष की आयु तक या 6 वर्ष तक (जो पहले पूर्ण हो जाए) रह सकता है। अक्टूबर 1973 को चुनाव आयोग को बहुसदस्यीय बनाने की अधिसूचना के आधार पर 'मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं अन्य निर्वाचन आयुक्त (सेवा-शर्तें) अधिनियम 1991' में संशोधन किया गया। इस संशोधन किया गया। इस संशोधन के उपरान्त वेतन एवं अन्य सेवा शर्तों के अतिरिक्त अन्य चुनाव आयुक्त, मुख्य चुनाव आयुक्त तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के समकक्ष हो गए। अध्यादेश में मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों के बीच कार्य विभाजन को भी परिभाषित किया गया। केवल पद नाम को छोड़कर शेष सभी क्षेत्रों में मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य दो चुनाव आयुक्तों के मध्य कोई अन्तर नहीं रह गया है, निर्णय अब एकमत से लिए जा सकते हैं। यदि मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य आयुक्तों में से किसी मामले पर मतभेद होता है तो बहुमत का निर्णय मान्य होगा। इसी अध्यादेश में मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्तों का वेतन भी समान (30,000रूपये) हो गया। मुख्य चुनाव आयुक्त अपने पद से उन्हीं कारणों पर और उन्हीं रीतियों से हटाया जायेगा जिन कारणों और रीति से सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश हटाया जा सकता है। अर्थात् सिद्ध कदाचार या

असमर्थता के आधार पर राष्ट्रपति के आदेश द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अपने पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन संसद के दोनों सदनों को अलग-अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई मत से प्रस्ताव पारित करना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जाएगा। उसके पश्चात् राष्ट्रपति मुख्य निर्वाचन आयुक्त की पदच्युति का आदेश जारी करेगा। अभी तक किसी भी मुख्य चुनाव आयुक्त को समय से पहले नहीं हटाया गया है। मुख्य चुनाव आयुक्त को पद ग्रहण करते समय कोई शपथ नहीं लेनी पड़ती। उसे सेवानिवृत्ति के पश्चात् केन्द्र तथा राज्यों में किसी भी सरकारी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता।

2.2.5 चुनाव आयोग के कार्य

चुनावों से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था करना निर्वाचन आयोग का कार्य है। इस सम्बन्ध में प्रमुखरूप से उसके निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है:-

1. चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन करना:- चुनाव क्षेत्रों का सीमांकन करना निर्वाचन आयोग का सर्वप्रथम कार्य है। प्रथम आम चुनाव में निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950' के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए आदेश के आधार पर किया गया था, लेकिन यह व्यवस्था सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुई, अतः संसद ने 'परिसीमन आयोग अधिनियम, 1952' पारित कर यह प्रावधान किया कि दस वर्ष बाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरान्त निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन किया जाना चाहिए। मुख्य चुनाव आयुक्त इस परिसीमन आयोग का अध्यक्ष होता है और दो सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों की अवकाश प्राप्त न्यायाधीश इसके सदस्य होते हैं। आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक राज्य से 2 से 7 तक सहायक सदस्यों का प्रावधान है। ये सहायक सदस्य राज्य से लोक सभा या राज्य विधानसभा के लिए निर्वाचित सदस्यों में से चुने जाते हैं। जनता के सुझावों व आपत्तियों को खुली बैठकों में विचार-विमर्श किया जाता है। इसके उपरान्त ही आयोग 'सीमांकन आदेश' की घोषणा करता है, इसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है।
2. मतदाता सूचियाँ तैयार करना – चुनाव आयोग के द्वारा प्रत्येक जनगणना के बाद और आम चुनाव या मध्यावधि चुनाव से पूर्व मतदाताओं की सूची में संशोधन किए जाते हैं। इन सूचियों में नए मतदाताओं के नाम शामिल किए जाते हैं और जो नागरिक मर चुके हैं, उनके नाम इस सूची से निकाले जाते हैं। मतदाता सूची तैयार होने पर चुनाव आयोग द्वारा जनता की तरफ से आपत्तियाँ मांगी जाती हैं और उन्हें दूर किया जाता है। इस प्रक्रिया का उद्देश्य यह है कि कोई भी मताधिकार की योग्यता रखने वाला व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रहे।
3. राजनीतिक दलों को मान्यता देना – चुनाव आयोग का यह एक महत्वपूर्ण कार्य है कि वह समय-समय पर पिछले आम चुनावों में मिले मतों के आधार पर राष्ट्रीय और राज्य स्तर के दलों को मान्यता प्रदान करता है। इस सम्बन्ध में आयोग द्वारा कोई भी आधार निश्चित किया जा सकता है और इसमें परिवर्तन किए जा सकते हैं। जैसे 1997 में चुनाव आयोग ने लोकसभा के चुनावों के अवसर पर 7 राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय स्तर पर और 36 राजनीतिक दलों को राज्य स्तर पर मान्यता दी थी। 1999 में 13वीं लोकसभा चुनावों के अवसर पर 6 राजनीतिक दल राष्ट्रीय स्तर पर और 48 राजनीतिक दल क्षेत्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त थे। 29 दिसम्बर, 2000 को चुनाव आयोग ने 6 राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय एवं 44 को राज्य स्तरीय दल के रूप में मान्यता प्रदान की।
4. राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिन्ह प्रदान करना – निर्वाचन आयोग राजनीतिक दलों को चुनाव चिन्ह आरक्षित करता है। यदि चुनाव चिन्ह के प्रश्न पर यदि किन्हीं दो या दो से अधिक राजनीतिक दलों

में कोई विवाद पैदा हो जाता है तो उस स्थिति में आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्ष और न्यायिक ढंग से निपटारा करेगा और अगर कोई राजनीतिक दल या उसके प्रत्याशी आयोग द्वारा निश्चित किए गए व्यवहार के आदर्श नियमों का उल्लंघन करते हैं तो चुनाव आयोग उनकी मान्यता रद्द भी कर सकता है, यह व्यवस्था 16 फरवरी, 1994 को चुनाव आयोग ने 1968 के चुनाव चिन्ह सम्बन्धी आदेश में संशोधन करके की। इस सम्बन्ध में आयोग के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील भी की जा सकती है।

5. पुनः मतदान कराना या चुनाव रद्द करना – चुनाव आयोग देश के किसी भी क्षेत्र में पुनः मतदान कराने के आदेश दे सकता है और किसी उप चुनाव को रद्द कर सकता है। जैसे मार्च 1990 में चुनाव आयोग ने हरियाणा में मध्य विधानसभा उप-चुनाव को रद्द करने का फैसला लिया था। इसी प्रकार 19 मई, 1993 को हरियाणा में कालका विधानसभा उप-चुनाव को रद्द कर दिया था। अप्रैल-मई, 1996 में लोकसभा चुनाव में प्रारम्भिक रिपोर्टों के आधार पर चुनाव आयोग ने 2024 से अधिक मतदान केन्द्रों पर पुनः मतदान करवाने का निर्णय लिया था, जिसमें अकेले बिहार में 1274 मतदान केन्द्रों पर पुनः मतदान हुआ। फरवरी, 1998 का चुनाव आयोग ने 9 राज्यों के 599 मतदान केन्द्रों पर पुनः मतदान के आदेश दिए। तेरहवीं लोकसभा चुनाव के प्रथम दौर (6 सितम्बर, 1998) के बाद 184 स्थानों तथा दूसरे दौर (12 एवं 13 सितम्बर) के मतदान के बाद 94 मतदान केन्द्रों पर पुनः मतदान के बाद 94 मतदान केन्द्रों पर पुनः मतदान के आदेश दिए गए थे।
6. स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव के लिए आवश्यक निर्देशन देना – चुनाव आयोग स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष चुनाव करवाने के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों, अधिकारियों, उम्मीदवारों तथा सरकारों को आवश्यक निर्देश जारी करता है। उदाहरण के लिए जनवरी, 1994 में चुनाव आयोग ने यह निर्देश जारी किया कि सभी प्रत्याशी चुनाव के लिए नामांकन पत्र भरने से लेकर चुनाव परिणाम घोषित होने तक खर्च का लेखा-जोखा आयोग ने राज्य तथा संघीय क्षेत्रों की सरकारों का निर्देश दिया कि 12वीं लोकसभा की चुनावी प्रक्रिया पूर्ण होने तक अन्य पिछड़े वर्ग की सूचियों में कोई परिवर्तन न किया जाए, सरकारी अधिकारियों के स्थानांतरण पर रोक तथा प्रधानमंत्री के अतिरिक्त अन्य मंत्रियों के सरकारी जहाज के प्रयोग पर रोक लगाने सम्बन्धी निर्देश जारी किया। 21 जनवरी, 1998 को चुनाव आयोग ने मतदान व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभाव की आशंका को देखते हुए यह निर्देश दिया कि संभावित परिणामों के सम्बन्ध में अनुमानित सर्वेक्षण प्रकाशित नहीं किए जाने चाहिए।
7. चुनाव कानून व आचार संहिता के उल्लंघन के आरोपों की जांच करना – चुनाव आयोग द्वारा चुनाव आचार संहिता के उल्लंघन सम्बन्धित आरोपों की जांच की जाती है। उदाहरणस्वरूप नवम्बर, 1984 के लोकसभा चुनाव की घोषणा के बाद मध्य प्रदेश व गुजरात सरकारों पर कुछ वर्गों को रियायत देने के आरोप पर चुनाव आयोग ने तत्परता से इसकी जांच के लिए कदम उठाए थे। इसी प्रकार फरवरी, 1995 में छः विधानसभाओं के चुनावों की घोषणा के बाद बिहार सरकार द्वारा कर्मचारियों के तबादलों पर चुनाव आयोग ने सरकार को इन तबादलों से दूर रहने के निर्देश जारी किए थे।
8. अर्द्धन्यायिक कार्य – संविधान द्वारा अनुच्छेद 103 के अन्तर्गत राष्ट्रपति से संसद के सदस्यों तथा अनुच्छेद 192 के अन्तर्गत राज्यपालों से विधानमण्डलों के सदस्यों की अयोग्यताओं के सम्बन्ध में चुनाव आयोग परामर्श कर सकता है।
9. अन्य कार्य – निर्वाचन आयोग को उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी सौंपे गए हैं, जो इस प्रकार हैं:-
 - चुनाव आयोग स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव करवाने के लिए पर्यवेक्षकों को नियुक्त करता है, जैसे अक्टूबर 2002 में जम्मू कश्मीर विधानसभा चुनावों में पर्यवेक्षकों को नियुक्त किया था।

- केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा चुनाव कार्यों के लिए दिए गए कर्मचारियों को नियंत्रित करना।
- चुनाव आयोग सीमा निर्धारण आयोग की लेख सम्बन्धी गलतियों को ठीक कर सकता है।
- राजनीतिक दलों को आकाशवाणी पर चुनाव प्रचार की सुविधाएँ दिलवाना।
- राजनीतिक दलों को पंजीकृत करना। जैसे 30 सितम्बर 2000 तक चुनाव आयोग के पास 682 राजनीतिक दलों के नाम पंजीकृत थे।
- चुनाव याचिकाओं आदि के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक परामर्श देना।
- चुनाव आयोग को चुनाव-सम्बन्धी सभी मामलों पर निरीक्षण, निर्देशन तथा नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त है।
- चुनाव आयोग विभिन्न चुनाव क्षेत्रों में चुनाव करवाने की तिथि निश्चित करता है।
- चुनाव आयोग राज्यों के मुख्य चुनाव अधिकारियों पर चुनाव से सम्बन्धित नियन्त्रण रखता है।
- चुनाव आयोग चुनाव करवाने के लिए रिटर्निंग अफसरों तथा सहायक रिटर्निंग अफसरों को नियुक्त करता है।
- चुनाव आयोग मनोनयन पन्नों के दाखिले की अन्तिम तिथि निश्चित करता है।
- चुनाव आयोग उम्मीदवारों के नाम वापस लेने की तिथि भी निश्चित करता है।
- चुनाव आयोग संसद तथा राज्य विधानमंडलों के सदस्यों के चुनाव का पूरा प्रबन्ध करता है।
- राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के पदों पर चुनाव करवाने का काम भी आयोग को सौंपा गया है।
- चुनाव आयोग मत-पेटियों की सुरक्षा तथा मतों की गिनती निष्पक्षता से करवाने के लिए उत्तरदायी है।
- चुनाव आयोग मतदान के लिए मतदान केन्द्र स्थापित करता है।
- चुनाव आयोग राष्ट्रपति के क्षेत्रीय चुनाव आयोगों की नियुक्ति के बारे में परामर्श दे सकता है।
- चुनाव आयोग समय-समय पर चुनाव में सुधार करने के लिए सुझाव देता है। उदाहरणतया मार्च, 1988 में चुनाव आयोग ने सरकार से इलैक्ट्रॉनिक मशीन, मतदाता की आयु 18 वर्ष करने व चुनाव क्षेत्रों के पुनर्गठन करने आदि के बारे में आग्रह किया। निर्वाचन आयोग ने बहु-उद्देशीय पहचान-पत्र और चुनाव याचिकाओं के शीघ्र निपटारों के लिए तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ करने की भी सिफारिश की।

इन सबके अतिरिक्त आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय-समय पर सरकार को अपने कार्यों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देता रहेगा।

2.2.6 निर्वाचन आयोग की आलोचना

भारत में समय-समय पर चुनाव आयोग की भूमिका पर उंगलियाँ उठती रही हैं और इसकी निष्पक्षता तथा स्वतन्त्रता के लिए इसकी आलोचना होती रही है जैसे 1971 के लोकसभा चुनाव के बाद चुनाव आयोग पर आरोपों में वृद्धि हुई और नवम्बर लोकसभा चुनाव (नवम्बर 1989) के दौरान भी आयोग पर कई आरोप लगाए गए। आयोग के बारे में निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती हैं:-

1. निर्वाचन आयोग सत्तारूढ़ दल का कठपुतली के रूप में – सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जाता है कि भारत में चुराव की तिथियाँ व समय चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित की जाती हैं, परन्तु मूल रूप से ये तिथियाँ सत्तारूढ़ दल की इच्छा व लाभ को मध्यनजर रखते हुए निश्चित की जाती हैं, जैसे 22 जून 1991 को पंजाब में लोकसभा व विधानसभा के चुनाव होने थे। 21 जून प्रातः मुख्य चुनाव आयुक्त टी०एन० शेषन ने 25

सितम्बर के लिए मतदान स्थगन की घोषणा कर दी क्योंकि कांग्रेस (ई) ने इन चुनावों का बहिष्कार किया था। अगर 22 जून को चुनाव हो जाते तो कांग्रेस को 22 मतों की कमी पड़ने लगती। शेषन कांग्रेस के लिए अल्पमत की पूर्ति तो नहीं कर सके, परन्तु अल्पमत की वृद्धि रोक सके।

2. मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति पर आलोचना – आलोचकों के अनुसार इस पद के लिए आमतौर पर भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है जैसे सुकुमार सेन और के०वी०के० सुन्दरम् दोनों ही भारतीय लोकसेवा के सदस्य थे। श्री एस०पी० जेन वर्मा कानून विभाग के सचिव तथा टी० स्वामीनाथन केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सचिव थे। इस पद पर उन अधिकारियों को नियुक्त किया जाता है जो शासक दल के प्रति निष्ठावान होते हैं और जो उनके कहे हुए कार्यों को किसी भी कीमत पर करने को तैयार रहते हैं।
3. मुख्य निर्वाचन आयुक्त की योग्यताओं सम्बन्धी आलोचना – संविधान में मुख्य निर्वाचन आयुक्त की योग्यताओं का कोई वर्णन नहीं किया गया है और न ही नियुक्ति प्रक्रिया को परिभाषित किया है। यह सब कुछ राष्ट्रपति पर छोड़ दिया गया है। भारत में संसदीय शासन प्रणाली के अनुसार इसकी नियुक्ति की जिम्मेदारी केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में निहित है। अतः इसकी नियुक्ति में राजनीतिक प्रभाव की संभावना है।
4. निर्वाचन आयोग के पास स्वतन्त्र कर्मचारी तंत्र का न होना – निर्वाचन आयोग के पास निर्वाचन कार्यों के लिए स्वयं का कर्मचारी तंत्र नहीं है। निर्वाचन कार्यों के लिए आयोग के राज्य के कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता है। ये कर्मचारी आयोग के प्रति इतने समर्पित नहीं होते हैं। जैसे नौवीं लोकसभा चुनाव के समय प्रधानमंत्री के निर्वाचन क्षेत्र अमेठी में फर्जी मतदान तथा बूथ पर कब्जा करने की घटनाएँ हुईं, उससे स्थानीय कलैक्टर और पुलिस सुपरिन्टेंडेंट की उदासीनता को देखते हुए चुनाव प्रक्रिया सम्पन्न होने से पूर्व ही उनका स्थानान्तरण कर्मचारीतंत्र की पक्षपातपूर्ण भूमिका का पर्दाफाश कर देता है।
5. मुख्य निर्वाचन आयुक्त को बिना उसकी योग्यताओं और पूर्ववर्ती सफलताओं को महत्व दिए वह दर्जा देना, जो कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा महालेखा परीक्षक को प्राप्त है, न्याय की दृष्टि से गलत है।
6. सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों तथा महालेखा परीक्षक के लिए तो पद ग्रहण की शपथ लेना जरूरी है, परन्तु मुख्य चुनाव आयुक्त के लिए यह अनिवार्य नहीं है।
7. यदि महालेखा परीक्षक तथा लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष को सेवा निवृत्ति के पश्चात् कोई सरकारी नौकरी स्वीकार करने का अधिकार नहीं तो उसी स्तर के इस पदाधिकारी को यह छूट देना सैद्धान्तिकरूप से गलत है।

2.2.7 निष्कर्ष

इन आलोचनाओं के बावजूद भी चुनाव आयोग की अहम भूमिका रही है। भारत में अभी तक 13 आम चुनाव हो सके हैं और आयोग के चुनौतीपूर्ण कार्य को देखते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि निर्वाचन क्षेत्र में परिसीमन के कार्य से लेकर निर्वाचन अधिनियम तक के कार्य को चुनाव आयोग ने सामान्यतया कुशलता निष्पक्षता तथा ईमानदारी से निभाया है। आर०पी० भल्ला के अनुसार, “देश के प्रशासनिक ढांचे में निर्वाचन आयोग ने विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। शिकायत होने की अवस्था में कोई भी राजनीतिक दल या उम्मीदवार या नागरिक इसका सहारा लेने में संकोच नहीं करता। इसने जनता में यह विश्वास उत्पन्न किया है कि निर्वाचन पद्धति उन्हें अपनी पसन्द का सरकार का निर्माण करने में हर संभव सहायता देगी। देश की कुछ प्रमुख संस्थाओं में निर्वाचन आयोग एक ऐसी संस्था है जिसके काम की देश की भीतर तथा बाहर श्लाघा हुई है।” इस प्रकार से चुनाव आयोग की निष्पक्षता एवं कुशलता इन उदाहरणों से झलकती है, जब 1996 में आम चुनाव के दौरान आचार संहिता के पालन के वजह से दिल्ली किराया कानून लागू नहीं किया जा सकता। जनवरी 1998 में आचार संहिता के कारण टाटा एयरलाइन्स को विदेशी निवेश प्रोत्साहन बोर्ड की अनुमतिरुक गई। जनवरी 2000 में निर्वाचन आयोग ने बिहार सरकार के वर्ष 2000-2001 बजट को पेश करने पर लगाई और कहा कि इस समय ऐसा करना आदर्श आचार संहिता का उल्लंघन करना है। आयोग के निर्देश पर राबड़ी सरकार राज्यपाल के अभिभाषण में प्रमुख नीतिगत घोषणाएँ न करने पर सहमत हो गई। इसी प्रकार अक्टूबर 2002 में जम्मू-कश्मीर विधानसभा चुनावों को जिस तत्परता और सुचारू ढंग से पूर्ण किया गया। इस प्रकार के उदाहरणों से चुनाव आयोग की प्रतिष्ठा ओर भी बढ़ जाती है।

2.2.8 मुख्य शब्दावली

- निर्वाचन आयोग
- जमानत
- समिति
- अध्यादेश
- परिसीमन

2.2.9 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. भारत में चुनाव आयोग की संरचना व संगठन का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. चुनाव आयोग के कार्यकाल व सेवा संबंधी शर्तों का वर्णन कीजिए।
3. भारत में चुनाव आयोग के मुख्य सुधारों पर टिप्पणी कीजिए।
4. चुनाव आयोग के कार्यों पर एक संक्षिप्त नोट लिखें।

2.2.10 संदर्भ सूची

- G. Austin, *The Indian Constitution: Corner Stone of Nation*, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, *Working a Democratic Constitution: The Indian Experience*, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, *An Introduction to the Constitution of India*, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B. Paarekh (ed). *Crisis and Change in contemporary India*, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, *The Indian State: Fifty years*. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, *Politics of India Since Independence* Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, *Language, Region and Politics in North India* London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, *Federalism in India: A Study of Union-State Relations*, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J. Harriss, *Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy*, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, *State Politics in India*, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, *India: Government and Politics in a Developing Nations*, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). *Democracy in India*, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) *Indian Government and Politics*, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, *Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability*, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, *Politics in India*, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, *Party System and Election Studies*, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, *Government and Politics in India*, Delhi, BI Publications, 1974.
- A.C. Noorani, *Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States*, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, *An Introduction to the constitution of India*, New Delhi, 1998.
- A. Ray, *Tension Areas in India's Federal System*, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). *Coalition Politics in India*, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

2.2 जातिवाद

(Casteism)

2.2.1 परिचय

प्रोफेसर वी०के० मेनन का यहाँ कथन ठीक है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से राजनैतिक क्षेत्र में जातिवाद का प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है। जहाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में जाति की शक्ति घटी है वहाँ राजनीति और प्रशासन में वृद्धि हुई है। कुछ विद्वान यह सोचते हैं कि भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के कारण, जिसके अनुसार पाश्चात्य ढंग की राजनैतिक संस्थाएँ और लोकतन्त्रीय मूल्य अपनाए गए हैं, जातिवाद का अन्त हो जाएगा। परन्तु यह बात ठीक नहीं दिखाई देती। रजनी कोठारी का इस विषय में मत है कि – प्रथम, कोई भी सामाजिक ढाँचा कभी भी पूरी तरह से समाप्त नहीं होता। इसलिए यह सोचना कि भारत में जाति का लोप हो जाएगा, गलत है। दूसरे, जाति-व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन के विकास में कोई बाधा नहीं डालती, बल्कि उसकी वृद्धि करने में सहायक होती है। राज्य स्तर की राजनीति में जाति और समुदाय शासन की निर्णय प्रक्रिया को उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जिस प्रकार से दबाव-समूह करते हैं। भारत की राजनैतिक व्यवस्था की एक विशेषता है कि राजनीतिज्ञ निश्चितरूप से जाति की नीति का तो विरोध करते हैं, परन्तु चुनाव के समय जाति के आधार पर ही वोट माँगते हैं।

2.3.2 उद्देश्य

- भारतीय राजनीति में जाति के उद्भव को समझना।
- भारतीय राजनीति में जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार को जानना।
- भारतीय राज्यों में जाति के प्रमुख समूहों के बारे में जान पाएँ।
- भारतीय शासन प्रणाली पर जाति के प्रभावों का मूल्यांकन कर पाएँ।

2.3.3 भारतीय राजनीति में जाति का उदय और प्रभाव

भारत में जाति-व्यवस्था एक प्राचीन संस्था है। ब्रिटिश काल में स्वतन्त्रता संग्राम के समय जातिवाद का प्रभाव कम होने लगा था। परन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जातिवाद का प्रभाव फिर बढ़ने लगा है। यद्यपि संविधान के द्वारा भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है परन्तु राजनीतिक और सामाजिक जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जो जातिवाद से प्रभावित न हो।

संविधान के वयस्क मताधिकार द्वारा जो भी नागरिकों को देश की राजनीति में भाग लेने का अधिकार दिया उससे निम्न और मध्य स्तर के लोगों में राजनैतिक शक्ति के प्रति लगाव पैदा हुआ। इससे जातियों के प्रभाव क्षेत्र में वृद्धि होने लगी। शुरु में तो आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से उच्च जातियाँ ही राजनीति में प्रभावित रही और राजनैतिक शक्ति उन्हीं तक सीमित रही, परन्तु समय के विकास के साथ मध्यम और निम्न जातियाँ भी राजनैतिक प्रभाव को बढ़ाने का प्रयत्न करने लगी। दूसरे, संविधान के द्वारा नागरिकों को जो समानता का अधिकार दिया गया उससे भी निम्न जातियों में राजनीतिकरण हुआ। इस प्रकार भारत की राजनैतिक व्यवस्था में जातिवाद का उदय लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के विकास के रूप में हुआ है। प्रो०रुडोल्फ के अनुसार, “भारत के राजनैतिक लोकतन्त्र के सन्दर्भ में जाति वह धुरी है जिसके माध्यम से नवीन मूल्यों और तरीकों की खोज की जा रही है। यथार्थ में यह एक ऐसा माध्यम बन गई है कि इसके जरिए भारतीय जनता को लोकतान्त्रिक राजनीति की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।” तीसरे, डॉ० इकबाल नारायण के अनुसार जातीय राजनीति को प्रोत्साहन जातीय संरक्षण की उस व्यवस्था में भी मिला है जिसके द्वारा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित कबीले आदि को संरक्षण दिया गया है। इस व्यवस्था ने

जाति को प्रभावशाली बनाया और राजनीति पर जाति की पकड़ और भी मजबूत हो गई है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि जातिवाद की राजनीति का उदय और विकास स्वतन्त्र भारत में हुआ है।

2.3.4 जाति का राजनैतिकरूप

(Political Dimensions of Caste)

प्रोफेसर रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'Case in Indian Politics' में भारतीय राजनीति में जाति का वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया है। उनके अनुसार राजनीति में जातिवाद का अर्थ जाति का राजनीतिकरण है। जाति को अपने दायरे में खींचकर राजनीति उसे अपने काम में लाने का प्रयत्न करती है जबकि जाति या बिरादरी को राजनीति के द्वारा देश की व्यवस्था में भाग लेने का अवसर मिलता है। राजनीतिज्ञ की जातिवाद से लाभ उठाते हैं।

जाति-व्यवस्था और राजनीति में अन्तःक्रिया के सन्दर्भ में डॉ० रजनी कोठारी ने जाति-प्रथा के तीनरूपों का वर्णन किया है

1. जाति-व्यवस्था का लौकिकरूप (Secular Aspect of Caste System)—जाति-प्रथा के लौकिकरूप का डॉ० कोठारी ने व्यापक दृष्टिकोण से अध्ययन किया है। उनका कथन है कि जाति-व्यवस्था की सामाजिक बातों, जैसे जाति के अन्दर विवाह, रीति-रिवाज आदि, को तो मान्यता दी गई है परन्तु इस बात की उपेक्षा कर दी गई है कि जातियों में आपसी गुटबन्दी रही है और वे लगातार अपनी प्रतिष्ठा तथा पद को बढ़ाने का प्रयत्न करती है। उदाहरण के लिए, विभिन्न राज्यों में, विशेषकर बिहार में, ऊँची जातियों और पिछड़ी जातियों के मध्य लगातार संघर्ष चलता रहता है। जाति-व्यवस्था के लौकिक पक्ष के दोरूपों का उल्लेख किया गया है। प्रथम, शासकीयरूप अर्थात् जाति की पंचायत और गाँव की पंचायत। दूसरे, राजनैतिकरूप, जिसमें जाति की आन्तरिक गुटबन्दी और जातियों से गठजोड़ होता रहता है। इन जातियों का सम्बन्ध अब लोकसभा और विधानसभाओं से हो गया है।
2. जाति-व्यवस्था का एकीकरणरूप (Integrting Aspect of Caste System)— जाति का दूसरा राजनैतिकरूप एकीकरण या समाज को बाँधने का है। जाति-प्रथा जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान तथा व्यवसाय और भूमिका निश्चित कर देती है। सभी मनुष्यों को जाति के प्रति लगाव रहता है और यही लगाव राजनैतिक व्यवस्था के प्रति भी विकसित होता है। इस प्रकार जातियाँ जोड़ने वाली कड़ी के रूप में कार्य करती हैं। भारत की लोकतन्त्रीय व्यवस्था में सत्ता प्राप्त करने के लिए जातियों में प्रतिद्वन्द्विता होती है, गठजोड़ होते हैं जो बदलते रहते हैं।
3. जाति-व्यवस्था का चैतन्यरूप (Consciousness Aspect of Political System)— जाति-व्यवस्था का तीसरारूप चेतन बोध है। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के कारण जाति विशेष की स्थिति भी बदलती है। कुछ जातियाँ अपने को उच्च समझती हैं और उनकी समाज में विशेष प्रतिष्ठा भी होती है। इस कारण वे अन्य जातियों को अपने साथ जोड़ने की कोशिश करती है। इससे व्यवहार में अलग-अलग स्तर पर जाति-व्यवस्था में लोच आ जाती है। इस कार्य के लिए चार साधन अपनाए जाते हैं। प्रथम, संस्कृतिकरण, जिसके अनुसार छोटी जातियाँ सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों की नकल करती है। इसे ब्राह्मणीकरण कहा जाता है। दूसरे, लौकिकीकरण, जिसके अनुसार अब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणों की नकल करने की प्रवृत्ति छोड़ देती है। ये जातियाँ अपनी उच्चता सिद्ध करने के लिए अपना सम्बन्ध पौराणिक पुरुषों से जोड़ने का प्रयत्न करती है। तीसरे, राजनीति में भागीदारी का ढंग है। इसमें कुछ जातियाँ राजनीति में भाग लेने लगीं और उन्हें समाज में उच्च स्थिति प्राप्त हो गई। आन्ध्र प्रदेश और बिहार इसके उदाहरण हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि जातियों की राजनीति में स्थिति परिवर्तित होती रहती है।

2.3.5 जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया के तीन चरण

(Three Stages of Interaction between Caste and Politics)

डॉ० कोठारी ने जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया के तीन चरणों का वर्णन किया है जो निम्न प्रकार है:

1. प्रथम चरण – प्रथम चरण में शक्ति और प्रभाव की प्रतिष्ठित जातियों तक ही सीमित रहे। जिन जातियों ने उच्च शिक्षा प्राप्त करके आधुनिक बने का प्रयत्न किया वे प्रतिदिन जातियों में गिनी जाने लगी। इन जातियों ने अधिकार और पद को प्राप्त करने के लिए राजनैतिक संगठन बनाए जिसके कि दो जातियों में प्रतिद्वन्द्वता आरम्भ हो गई। उदाहरण के लिए मद्रास और महाराष्ट्र में ब्राह्मण और अब्राह्मण के मध्य, राजस्थान में राजपूत और जाटों के मध्य, आन्ध्र प्रदेश में कमा और रेड़ी के मध्य प्रतिद्वन्द्विता चलती रही।
2. दूसरा चरण – इस चरण में पद और लाभ के आकांक्षियों की संख्या में वृद्धि हुई और विभिन्न जातियों में प्रतिद्वन्द्वता के साथ-साथ जाति के अन्दर भी गुट बनने लगे। प्रतिद्वन्द्विता नेताओं के पीछे गुट बन जाते हैं। इन गुटों में विभिन्न जातियों के लोग होते हैं। चुनाव में समर्थन प्राप्त करने के लिए अन्य जातियों को भी राजनैतिक पद और लाभ में हिस्सा देकर मिलाने का प्रयत्न किया जाता है। कभी-कभी विभिन्न जातियों में भी प्रतिस्पर्धा पैदा करने के लिए संगठन बनाए जाते हैं। इस चरण में ब्राह्मण और कायस्थों के स्थान पर व्यावसायिक और कृषक जातियों के नेताओं के संख्या में वृद्धि हुई।
3. तीसरा चरण – तीसरे चरण में एक ओर तो राजनैतिक मूल्यों की प्रधानता हुई और जाति-पाति से लगाव कम हुआ वहाँ दूसरी ओर शिक्षा, नये-शिल्प और शहरीकरण के कारण समाज में परिवर्तन आया। पुराने पारिवारिक बन्धन टूटने लगे। लोग काम-धन्धों के लिए शहरों में जाकर बसने लगे जिससे कि जाति की भावना ढीली पड़ने लगी और सामाजिक व्यवहार अपनी जाति तक सीमित न रहा। राजनैतिक संस्थाओं का ढाँचा व्यापक होने लगा और जाति को नयारूप प्राप्त हुआ। आधुनिक राजनीति में भाग लेने की दृष्टि में परिवर्तन हो गया। जाति अब राजनैतिक समर्थन या शक्ति का आधार नहीं रही यद्यपि इसका अधिक-से-अधिक प्रयोग हो रहा है। इस चरण में चुनाव की राजनीतियों में अनेक जातियों का गुट बनता है। इससे स्पष्ट है कि तीसरे चरण में जातिवाद की राजनीति में परिवर्तन हो गया है।

इस वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाति और राजनीति ने एक-दूसरे को प्रभावित किया है। रजनी कोठारी के अनुसार, “राजनीति में जातिवाद और जाति का राजनीतिकरण दोनों प्रक्रियाएँ एक साथ दिखाई देती हैं।

डॉ० कोठारी के अनुसार राजनीति में जाति सम्बन्धी निष्कर्ष का वर्णन निम्नलिखित भागों में किया जा सकता है:

- (1) वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था में भाग लेने के कारण पहले तो जाति-प्रथा पर पृथकता की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा, बाद में जाति भावना का सामंजस्य हुआ और इसने राजनैतिक संगठन में सहायता दी।
- (2) राजनीति में भाग लेने से लोगों की दृष्टि में परिवर्तन हो गया। वे समझ गए कि केवल जाति और सम्प्रदाय से काम नहीं चल सकता है। इस लिए उन्होंने विभिन्न जातियों के साथ मेल करना शुरू किया जिससे कि जाति-भावना ढीली पड़ने लगी।
- (3) जातियों के आधार पर संगठन बनते हैं और वे दबाव-समूहों के रूप में कार्य करते हैं।
- (4) जातियों और सम्प्रदायों के फलस्वरूप विभिन्न जातियों में राष्ट्रीय भावनाओं का उदय हुआ है जिससे उनकी पृथकता कम हो गई और उनका राजनैतिक एकीकरण हुआ है।

जाति के राजनीतिकरण की विशेषता

भारतीय राजनीति में जाति की विशेषताओं का वर्णन निम्नलिखित भागों में किया जा सकता है:

- (1) जाति व्यक्ति को बाँधने वाली कड़ी है जिसने जातिय संघों और जातीय पंचायतों की राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं को बढ़ाया है। जैसे लिगांयत, कबीर पंथी, सिक्ख आन्दोलन आदि।
- (2) शिक्षा, शहरीकरण और आधुनिकीकरण में जातियाँ समाप्त नहीं हुई है परन्तु उनमें एकीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी है।
- (3) राजनीति में प्रधान जाति की भूमिका इस आधार पर निर्भर है कि किसी क्षेत्र में उस जाति की संख्या कितनी है।
- (4) जातियों में गुटबन्दी के कारण विभिन्न जातियों को कुछ सुविधाएँ प्रदान होती है।
- (5) चुनाव में राजनीतिज्ञ जातियों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।
- (6) जाति और राजनीति के सम्बन्ध परिवर्तनशील हैं।
- (7) जाति की भूमिका राष्ट्रीय स्तर पर इतनी प्रभावशाली नहीं है जितनी कि स्थानीय राजस्तर पर है।

2.3.6 भारतीय राजनीति में 'जाति' की भूमिका

(Role of 'Caste' in Indian Politics)

जयप्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि 'जाति भारत में अत्यधिक महत्वपूर्ण दल है'। हेरल्ड गोल्ड के शब्दों में, 'राजनीति का आधार होने के बजाय जाति उसको प्रभावित करने वालों एक तत्व हैं।'

जाति-व्यवस्था भारतीय समाज का परम्परागत पक्ष है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात संविधान और राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण से आधुनिक प्रभावों ने भारतीय समाज में धीरे-धीरे प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। आधुनिक प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। आधुनिक प्रभावों के फलस्वरूप व्यस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन प्रारम्भ हुए और जातिगत संस्थाएं सहायक महत्वपूर्ण बन गयी क्योंकि उनके पास भारी संख्या में मत थे और लोकतन्त्र में सत्ता प्राप्ति हेतु इन मतों का मूल्य था। जिन्हें सत्ता की आकांक्षा थी उन्हें सामान्य जनता के पास पहुंचने के लिए सम्पर्क सूत्र की भी आवश्यकता थी। सामान्य जनता को अपने पक्ष में मिलाने के लिए यह भी जरूरी था कि उनसे उस भाषा में बात की जाए जो उनकी समझ में आ सके। जाति-व्यवस्था इस बात को प्रकट करती थी। इस पृष्ठभूमि का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है:

1. निर्णय प्रक्रिया के जाति की प्रभावक भूमिका (Influential Role of Caste in Decision Making Process): भारत में जातियां संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ, संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण के प्रावधान रखे गए हैं जिनके कारण से जातियां संगठित होकर सरकार पर दबाव डालती हैं कि इन सुविधाओं को अधिक वर्षों के लिए अर्थात् जनवरी 2010 तक के लिए बढ़ा दिया जाए। अन्य जातियां चाहती हैं कि आरक्षण समाप्त किया जाए अथवा इसका आधार सामाजिक आर्थिक स्थिति ही अथवा उन्हें आरक्षित सूची में शामिल किया जाए ताकि वे इसके लाभ से वंचित न रह जाए।
2. राजनीतिक दलों में जातिगत आधार पर निर्णय (Caste oriented decisions at the level of Political Parties)- भारत में सभी राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते हैं। प्रत्येक दल किसी भी चुनाव क्षेत्र में प्रत्याशी मनोनीत करते समय जातिगत गतघत का अवश्य

विश्लेषण करते हैं। 1962 में गुजरात के चुनाव में स्वतन्त्रपार्टी की सफलता का राज उसका क्षेत्रीय जाति के समर्थन में छिपा हुआ था। हरिजन-मुसलमान-ब्राह्मण शक्तिपुंज बनकार ही 1971 का आम चुनाव कांग्रेस ने जीता था। 197 में जनता पार्टी की विजय का कारण उसका मुसलमानों और हरिजनों के साथ उच्च जातियों का प्राप्त समर्थन था। जनवरी 1980 के समय लोकसभा चुनावों में कांग्रेस (इन्दिरा) की विजय का कारण था कि श्रीमती गांधी हरिजन, ब्राह्मण और मुसलमानों का जातीय समर्थन जुटाने में सफल हो गयी। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों में उत्तर प्रदेश और बिहार में जनता दल की अपूर्व विजय का एक कारण जाट-राजपूत समर्थन था। कांग्रेस सहित सभी राजनीतिक दलों में जातीय आधार पर अनेक गुट पाए जाते हैं जिनमें प्रतिस्पर्द्धा विद्यमान रहती हैं।

“लोगों की जाति-पाति के प्रति निन्दा को राजनीतिज्ञों ने थोक वोट के रूप में देखा, सत्ता में आने के लिए सदनों में बहुमत प्राप्त करने के उद्देश्य से राजनीतिज्ञों ने जाति-पाती के आधार पर उम्मीदवारों के चयन और सत्ता में आने पर उन्हें मन्त्रिपद एवं अन्य लाभ के पद उपलब्ध कराए।”

3. जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार (Caste oriented voting behavior)— भारत में चुनाव अभियान में जातिवाद को साधन के रूप में अपनाया जाता है और प्रत्याशी जिस निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव लड़ रहा है उस निर्वाचन क्षेत्रों में जातिवादी भावना को प्रायः उकसाया जाता है ताकि सम्बन्धित प्रत्याशी की जाति के मतदाताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त किया जा सके। जनवरी 1980 के चुनावों में उत्तर प्रदेश और कुछ बिहार के हिस्सों में लोकदल की सफलता पिछड़ी जातियों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का प्रतीक है। उत्तर प्रदेश के चुनावों में चरणसिंह की सफलता सदैव ही जाट जाति के मतों को एकजुटता पर निर्भर रही है। केरल के चुनावों में साम्यवादी और मार्क्सवादी दलों से भी वोट जुटाने के लिए सदैव जाति का सहारा लिया है।

“मंडल विवाद के कारण 1990-91 में समाज जाति के आधार पर दो भागों में बंट गया और गावों शहरों में जातियुद्ध या छिड़ गया। राजनीतिक पार्टियाँ सिर्फ एक चुनावी मुद्दे प्रश्चात करने लगी-पिछड़े बनाम आगडें का।

भाजपा के अयोध्या आन्दोलन की प्रतिक्रिया में देश के दो बड़े राज्यों-उत्तर प्रदेश और बिहार में जहां लोकसभा की 139 सीटें हैं, एक अनूठे सामाजिक, राजनीतिक गठजोड़ का जन्म हुआ जिसके जनक क्रमशः मुलायमसिंह यादव और लालू प्रसाद यादव थे। मुसलमानों और यादवों को मिलाकर बने इस ‘माइ’ गठजोड़ से दोनों राज्यों के मतदाताओं का एक बड़ा हिस्सा एकजुट हो गया।

जिस प्रकार जापान ने मतदान समूह-निर्धारित (Group determinant) है, ब्रिटेन में यह वर्ग निर्धारित है, अमेरिका में यह प्रजाति निर्धारित है, उसी प्रकार भारत में जाति निर्धारित है जो जातियां जातिय संस्तरण में सबसे नीचे है, उनके लिए मतदान की प्रक्रिया कई प्रकार से एक शक्तिशाली क्रिया हो सकती है। जाति का सामाजिक व आर्थिक स्तर जिनका निम्न होगा उतना ही उनके मत का अधिक महत्व होगा। कोहन, मेयर, कोठारी, वर्मा और भांभरी, रामाश्रय राय आदि आदि अनेक विद्वानों के भारत में कहन अध्ययनों से पता चलता है कि जातियां अपनी मत शक्ति के कारण प्रभाव डालने में सक्षम भूमिका निभाती रही है और शक्ति सौदेबाजी के लाभ प्राप्त करती रही है। ये जातियां राजनैतिक संस्थाओं में उच्च जातियों के नेतृत्व की चुनौती देती रही है, यद्यपि उन्हें सदैव सफलता प्राप्त नहीं होती है। रजनी कोठारी की भी मान्यता है कि जातियां अपनी पहचान बनाए रखती है और सत्ता के लिए संघर्ष करती है। आन्द्रे बेतेई ने कहा है कि मतदान में जाति निष्ठाओं (loyalties) का शोषण किया जाता है। जातियों को तोड़कर नवीन गठबन्धन भी स्थापित होते हैं।रूडोल्फ (Rudolph) का मत है कि जाति संघों ने जाति की स्फूर्ति प्रदान की है और भारत

में जनतन्त्र ने जातियों को महत्वपूर्ण राजनैतिक भूमिका निभाने के योग्य बनाया है। जाति संगम (Federations) एक जाति से ही नहीं बल्कि अनेक जातियों से मिलकर बनते हैं। कभी-कभी उनके राजनैतिक उद्देश्य एक समान होते हैं, उदाहरणार्थ, हरियाणा में गूजरों, जाटों और राजपूतों ने 1989 के चुनावों में इसी प्रकार के जाति संगम बना लिए थे।

डी.एल. सेठ (Economic and Political Weekly, January 1970) ने 1967 में भारत के विविध चुनाव क्षेत्रों के 2287 व्यक्तियों का अध्ययन यह पता लगाने के लिए किया कि मतदान को प्रभावित करने वाले कौन-कौन से कारक हैं। उन्होंने अपने अध्ययन से पाया कि केवल 1.0% मामलों में परिवार के वृद्ध जनों की सलाह को महत्व दिया गया, 20% मामलों में पारिवारिक विचार-विमर्श को, और 49% मामलों में मतदाता के स्वयं के निर्णय को महत्व प्रदान किया गया था। 4% मामलों में निर्धारक कारक का निश्चित ज्ञान न हो सका। इसके विपरीत उसी वर्ष पूना में 1000 व्यक्तियों के इसी प्रकार के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि जाति ने 58% प्रभावित किया, 42% मामलों में धन ने, 36% मामलों में पार्टी संगठन ने, 21% में पार्टी विचारधारा (Ideology) ने तथा 21 मामलों में प्रत्याशी की पृष्ठभूमि ने प्रभावित किया। रामाश्रय राय ने 1969 में चार राज्यों—बिहार, उत्तर-प्रदेश, पंजाब व पश्चिम बंगाल में हुए मध्यावधि चुनावों का एक अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि 14% मामलों में समूह के दबाव (जाति और परिवार) ने मतदान को प्रभावित किया, जबकि 23% मामलों में प्रत्याशी की ख्याति ने, 38% मामलों में पार्टी निष्ठा ने, और 9% मामलों में विविध कारकों, ने 15% मामलों में सही कारक का पता न लग सका।

चुनाव के लिए प्रत्याशी के चुनने में राजनैतिक दल अक्सर चुनाव क्षेत्र की जाति-संरचना पर अधिक ध्यान देते हैं। इस तथ्य ने अनेक निम्नस्तरीय-जातियों को उनकी संख्यात्मक शक्ति के आधार पर राजनैतिक दृष्टि से प्रभावशाली बना दिया है। 1960 व 1970 के दशकों में भारत में सम्पन्न हुए चुनाव पर हुए अध्ययन से ज्ञात होता है कि: (1) मध्यम व निम्न जाति के लोग कांग्रेस की ओर झुके हुए थे, (2) उच्च जाति के लोग विरोधी दलों का चोट देले के पक्ष में थे और (3) अनुसूचित जाति के लोग कांग्रेस के पक्ष में थे। किन्तु 1980 दशक के अन्त में और 1990 दशक के आरम्भ के चुनावों में उपरोक्त सिद्धान्त निरर्थक सिद्ध हुए। कोठारी ने हाल में लिखा है कि राष्ट्रीय राजनीति में जाति का महत्व कम होता जा रहा है। हैरोल्ड गुल्ड (Economic and Political Week August, 1977) भी इसी विचार के हैं कि भारत में अब राजनीतिक निर्धारक के रूप में जाति का महत्व कम हो रहा है। परन्तु कुछ विद्वानों को मान्यता है कि दिसम्बर 1994 में उस राज्यों में होने वाले चुनावों में दो तीन राज्यों में जाति का वोटो पर प्रभाव अवश्य दिखाई देता है। आज जो वास्तविक कारक मतदाता को प्रभावित करते हैं उनमें से कुछ अचेतन व कुछ संचेत शक्तियाँ हैं, जिनमें से कुछ को सरलता से पहचाना जा सकता है, जबकि दूसरी भ्रामक है, यद्यपि वे भी समानरूप से महत्वपूर्ण निर्धारक हो सकता है।

- (4) मन्त्रिमण्डलों के निर्माण में जातिगत प्रतिनिधित्व (Case representation in the ministry making)- राजनीतिक जीवन में जातीयता का सिद्धान्त इतना गहरा धस गया है कि राज्यों के मन्त्रिमण्डल में प्रत्येक प्रमुख जाति का मन्त्री होना चाहिए। यह सिद्धान्त प्रान्तों की राजधानियों से ग्राम पंचायतों तक स्वीकृत हो गया कि प्रत्येक स्तर पर प्रधान जाति को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। यहां तक कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में भी हरिजनों, जनजातियों, सिक्खों, मुसलमानों, ब्राह्मण, जाटों, राजपूतों और कास्थों को किसी न किसीरूप में स्थान अवश्य दिया जाता है। हाल ही में अजीतसिंह को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में जातीय पृष्ठभूमि और उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों में जातीय समीकरण को पुख्ता करने की मंशा से ही शामिल किया गया है।
- (5) जातिगत दबाव समूह (Caste as Pressure Groups)- मेयर के अनुसार, "जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रस्तुत है।" जातिगत दबाव समूह अपने न्यस्त स्वार्थों एवं हितों की पूर्ति के लिए

नीति निर्माताओं को जिस ढंग से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं उससे तो उनकी तुलना यूरोप और अमरीका में पाएजाने वाले ऐच्छिक समुदायों से की जा सकती है।

अनेक जातीय संगठन और समुदाय जैसे तमिलनाडु में नाडार जाति संघ, गुजरात में क्षेत्रिय महासंघ, बिहार में कायस्थ सभा आदि राजनीतिक मामलों में रुचि लेने लगते हैं और अपने-अपने संगठित बल के आधार पर राजनीतिक सौदेबाजी भी करते हैं। यद्यपि देश की सभी प्रमुख जातियों को इस प्रकार पूर्णतया संगठित नहीं किया जा सका है। मगर जो जातियां इस प्रकार संगठित नहीं हो सकी, वे राजनीतिक सौदेबाजी में सफल नहीं रहीं और उनके सदस्यों को अपनी आवाज उठाने के लिए उपद्रव और तोड़-फोड़ का सहारा लेना पड़ा।

(6) जाति एवं प्रशासन (Castes and Administration) – लोकसभा और विधानसभाओं के लिए जातिगत आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है, केन्द्र एवं राज्यों की सरकारी नौकरियों एवं पदोन्नति के लिए जातिगत आरक्षण का प्रावधान है। मेडिकल एवं इंजीनियरिंग कॉलेजों की भर्ती हेतु आरक्षण के प्रावधान मौजूद हैं। चरण सिंह सरकार ने भी अल्पकाल में एक अध्यादेश के माध्यम से पिछड़ी जातियों के लिए केन्द्रीय सरकार की सेवा में आरक्षण व्यवस्था घोषित करने की मंशा प्रकट की थी और इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की भी ताक में रख दिया था। यदि यह अध्यादेश लागू हो मध्यम जातियों, जैसे अहीर, कुर्मी आदि को भी आरक्षण के अवसर मिल जायें। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने अगस्त 1991 में मण्डल रिपोर्ट लागू कर नौकरियों में पिछड़ी जातियों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया। ऐसा भी माना जाता है कि भारत में स्थानीय स्तर के प्रशासनिक अधिकारी निर्णय लेते समय तथा निर्णयों के क्रियान्वयन में प्रधान और प्रतिष्ठित अथवा संगठित जातियों के नेताओं से प्रभावित हो जाते हैं।

(7) राज्य राजनीति में जाति (Caste in State Politics) – माईकल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीतिक की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है। यद्यपि किसी भी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावों को अछूती नहीं रही है तथापि बिहार, केरल तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा, राजस्थान और महाराष्ट्र राज्यों की राजनीति के राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और जनजाति प्रमुख प्रतिस्पर्द्धा जातियां हैं। पृथक झारखण्ड राज्य की मांग वस्तुतः एक जातीय मांग ही रही है।

राज्य की मांग ही रही है। केरल में साम्यवादी की सफला का राज यही है कि उन्होंने इजावहा जाति को अपने पीछे संगठित का लिया। आन्ध्र प्रदेश की राजनीति काम्मा और रेड्डी जातियों के संघर्ष की कहानी है। काम्माओं ने साम्यवादी दल का समर्थन दिया तो रेड्डी जाति ने कांग्रेस दल का। महाराष्ट्र की राजनीति में मराठों, ब्राह्मणों और महारों में प्रतिस्पर्द्धा रही है। गुजरात की राजनीति में दो ही जातियां प्रभावी हैं—पाटीदार और क्षेत्रिय। केरल की राजनीति में अन्तिम दो समुदायों के इर्द-गिर्द घूमती रही है—हिंदू क्रिश्चियन और मुसलमान। केरल की राजनीति से अन्तिम दो प्रमुख राजनीतिक शक्तियों के रूप में सक्रिय है। कहने की तो वहां सभी प्रकार के राजनीतिक दल हैं, किन्तु उन्हें ध्यानपूर्वक देखा जाए तो पता चलेगा कि वे सब जातीय संगठन हैं। मुस्लिम लीग मुसलमानों की है, साम्यवादी दलों में इजावहा जाति के अलावा हिन्दुओं के कुछ प्रमुख वर्गों का प्रभाव देखा जा सकता है। राजस्थान की राजनीति में जाट राजपूत जातियों की प्रतिस्पर्द्धा प्रमुख रही है। संक्षेप में राज्यों की राजनीति में शांति का प्रस्ताव इतना अधिक प्रतीत हो रहा है कि टिकर जैसे विद्वानों ने राज्यों की राजनीति को जातियों की राजनीति की संज्ञा दे डाली है।

देश के सर्वाधिक आबादी वाले राज्यों उत्तर प्रदेश और बिहार में जाति की राजनीति ज्यादा ही खुलकर सामने आती रही। उत्तर प्रदेश में चरणसिंह और बिहार में कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में जात-पात की खुलकर बढ़वा दिया। देवी लाल ने भी हरियाणा में जाति की बैसाखियों पर ही सत्ता के शिखर छूने का प्रयास किया। बिहार में

लालू प्रसाद यादव के नेतृत्व में जाति की राजनीति की जड़ मजबूत हुई, तो उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव व कांशीराम को प्रतिनिधि मायावती ने अपने-अपने जातीय केन्द्र बैंकों के आधार पर राज्य की जातीय संघर्षों को और धकेल दिया।

2.3.7 भारत के राज्यों में जाति एवं राजनीति

(1) तमिलनाडु:

यद्यपि जाति के प्रति निष्ठा प्रत्येक राज्य में पाई जाती है, परन्तु मद्रास में यह सबसे अधिक उग्ररूप में है। मद्रास में ब्राह्मणों का एक वर्ग बन गया जो ब्राह्मणों के अस्तित्व का ही विरोधी है। इस वर्ग के उदय ने द्रविड़ों के पृथक्तावादी आन्दोलन को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। मॉरिस जोन्स (Morris Jones) के कथनानुसार, "यह कहा जा सकता है कि प्रायः सभी स्थानों पर राजनीतिक सम्बन्धों में जाति के प्रति वफादारी एक कारक के रूप में पाई जाती है, मद्रास जैसे राज्य में ब्राह्मणों के वेगपूर्ण उदय ने राज्य की राजनीतिक में प्रधानता ही प्राप्त नहीं की है, वरन् द्रविड़ स्थान के प्रथक्तावादी आन्दोलन में महत्वपूर्ण योग दिया है, जिसकी अभिव्यक्ति द्रविड़ मुनेत्र कडगम के रूप में हुई है।" (It can said while caste loyalty is almost everywhere present as a factor of political relations, in a State like Madras, the rapid rise of the non-Brahmins has not merely dominated the whole shape of Madras politics but has in particulars made a significant contribution to the movement for Dravidian separatism now expressed by the Dravid Munetra Kadgham.)

1909 में मार्ले-मिण्टो सुधारों के लागू होने के पश्चात् मद्रास में भी साम्प्रदायिकता की लहर फैली। 1909 से पूर्व मद्रास में गैर-ब्राह्मण जातीय समूहों की वहां की राजनीति में कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं थी। गैर-ब्राह्मण लोगों के तियों की उपेक्षा की जाती थी। ऊंचे-ऊंचे पदों पर ब्राह्मण ही आसीन थे। धीरे-धीरे गैर-ब्राह्मण जातीय समूहों में जागृति पैदा हुई। श्री शंकरन नायर, श्री पी. थेगोरायो चेट्टी तथा डॉ. टी. एस. नायर जैसे नेताओं ने गैर-ब्राह्मण आन्दोलन चलाया, जिसके फलस्वरूप 1916 में जस्टिस पार्टी (Justice Party) की स्थापना हुई।

जस्टिस पार्टी का उद्देश्य मद्रास में ब्राह्मणों को सत्ता में आने से रोकना था। गैर-ब्राह्मणों का विचार था कि यदि तत्कालीन परिस्थितियों में 'श्वशासन' (Self Government) की स्थापना हुई तो ब्राह्मणों का शासन स्थापित हो जाएगा। इतना ही नहीं, वे कांग्रेस पार्टी को भी ब्राह्मणों की पार्टी मानते थे। दूसरी ओर कांग्रेस जस्टिस पार्टी के विरुद्ध थी, क्योंकि जस्टिस पार्टी का लक्ष्य बड़ा संकुचित था। जस्टिस पार्टी ने मुस्लिम लीग की तरह गैर-ब्राह्मणों के लिए पृथक् चुनाव क्षेत्रों के लिए आन्दोलन शुरू किया और उन्हें सफलता भी मिली। 1919 के भारत सरकार अधिनियम के अधीन विधानसभा में जस्टिस पार्टी के लिए स्थान सुरक्षित रखे गए। पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों के फलस्वरूप जस्टिस पार्टी की शक्ति में वृद्धि हुई।

बाद में 'द्रविड़ कडगम' (Dravid Kadham) की नींव पड़ी। 'द्रविड़ कडगम' आन्दोलन के जन्मादाता श्री रामास्वामी नायर थे। श्री सी. एन. अन्नादुराई उनके मुख्य सहायक थे। 'द्रविड़ कडगम पार्टी' ने छोटे स्तर के लोगों की भावनाओं को उत्तेजित किया और उन्हें उत्तरी भारत के लोगों के विरुद्ध एक शक्ति के रूप में खड़ा कर दिया। 1938 में मद्रास में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के नेतृत्व में कांग्रेस की सरकार स्थापित हुई और हिन्दी का अनिवार्य विषय (Compulsory Subject) का दर्जा दिया गया। यहां से मद्रास में हिन्दी-विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ। रामास्वामी नायर ने 72 वर्ष की आयु में 28 वर्ष की युवती से शादी कर ली, जिस पर सी. एम. अन्नादुराई के नेतृत्व में बहुत लोगों ने 'द्रविड़ कडगम' पार्टी को छोड़ दिया और नई पार्टी 'द्रविड़ मुनेत्र कडगम' की स्थापना की। अन्नादुराई ने दक्षिण एवं उत्तर के प्रश्न पर पार्टी का संगठन किया। 1967 में इस पार्टी को भारी सफलता मिली और अन्नादुराई के नेतृत्व में 'द्रविड़ मुनेत्र कडगम' की सरकार बनी। 1972 में 'द्रविड़ मुनेत्र कडगम' में फूट पड़ गई और एक नए दल अद्रमुक (A.D.M.K) का निर्माण हुआ। 1977, 1980, 1985 और 1991 के चुनाव में अद्रमुक का

स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और इस दल की सरकार का निर्माण हुआ। अतः तमिलनाडु में जातिवाद की प्रमुख भूमिका रही है।

(2) कर्नाटक:

कर्नाटक अर्थात् मैसूर में जातिवाद की जड़ें बहुत गहरी हैं। कर्नाटक राज्य की 5 करोड़ की जनसंख्या में लगभग 42 जातियां हैं, जिनमें लिंगायत तथा ब्राह्मणों का महत्वपूर्ण प्रभाव है। यहां विभिन्न राजनीतिक दलों, शिक्षा-संस्थाओं, जातीय कोष, पंचायतों आदि द्वारा जातीयता को बढ़ावा दिया गया है। मैसूर में मठाधीश राजनीति में सक्रियरूप से भाग लेते हैं तथा चुनावों को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक नेता इस धार्मिक नेताओं से सम्बन्ध बनाए रखते हैं, ताकि चुनाव के समय इनका लाभ उठाया जा सके। आज तक वहां पर वहीं मुख्यमंत्री सफल रहा है जिसने जातीय हितों के लिए कार्य किया है। 1947 के चुनाव में के.पी. रेड्डी मुख्यमंत्री बने, जो वोक्कालिग जाति के थे। 1950 में मैसूर 'बी' वर्ग के राज्यों में आ गया और कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बना। 1952 में मैसूर विधानसभा के चुनाव में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और हनुमन्तैयया अपनी जाति (वोक्कालिग) के समर्थन के आधार पर मैसूर के मुख्यमंत्री बने। हनुमन्तैयया की सरकार ने अपनी जाति के हितों की ओर ध्यान न देकर सार्वजनिक हितों की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें त्याग-पत्र देना पड़ा। 1957 के पश्चात् सत्ता वोक्कालिगों के हाथ से निकल कर लिंगायतों के हाथ आ गई, क्योंकि 1957 में कन्नड़-भाषा क्षेत्र को मैसूर में सम्मिलित किया गया। निजलिंगप्पा मैसूर के मुख्यमंत्री बने, परन्तु उन्हें 15 महीने के बाद ही त्याग-पत्र देना पड़ा क्योंकि उन्होंने मुख्यमंत्री बनने के पश्चात् जातिवाद के स्थान पर उदारवादीरूप अपनाया था। 1962 के चुनाव के पश्चात् निजलिंगप्पा पुनः मुख्यमंत्री बने और उनके मन्त्रिमण्डल में अधिकांश सदस्य लिंगायत जाति के थे। निजलिंगप्पा के बाद बी.डी. जत्ती और एस.आर. कान्ति मुख्यमंत्री बने और इन दोनों मुख्यमंत्रियों के काल में लिंगायतों का प्रभाव रहा। 1967 के चुनाव के पश्चात् वीरेन्द्र पाटिल मुख्यमंत्री बने। इस प्रकार 1972 तक लिंगायतों का प्रभाव बना रहा। 1972 के चुनाव में श्रीमती गांधी ने नेतृत्व में कांग्रेस को मैसूर में सफलता मिली और देवराज अर्स को मुख्यमंत्री बनाया गया। अतः कर्नाटक की राजनीति में जातिवाद का बोलबाला है।

(3) बिहार:

तमिलनाडू व कर्नाटक के समान बिहार की राजनीति में भी जाति का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है और आज भी है। डॉ. सुभाष कश्यप के विचारानुसार, बिहार उन राज्यों में से है, जहां सबसे पहले जाति का राजनीतिकरण हुआ। ब्रिटिश शासनकाल में बिहार को एक पृथक प्रान्त बनाने के कायस्थ जाति की महत्वाकांक्षाओं का विशेष योग था। इस जाति ने बिहार की सारी नागरिक संस्थाओं पर अपनी प्रभुता स्थापित कर रखी थी। कायस्थ शिक्षा के क्षेत्र में काफी आगे बढ़े हुए थे और अधिकांश सरकारी नौकरियों पर और विधि, चिकित्सा तथा अध्यापन जैसे व्यवसायों में भी उन्होंने अपना अधिपत्य जमा रखा था। ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहारों, राजपूतों और ब्राह्मणों की प्रभुसत्ता थी। आज भी बिहार की राजनीति पर जाति का बहुत प्रभाव है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का राजनीतिक क्षेत्र में काफी प्रभाव है। राजपूतों और भूमिहारों में आपस में सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे हैं।

बिहार में जाति-आधार पर हमेशा कांग्रेस में गुटबन्दी की राजनीति पनपी है। जातीय गुटबन्दी न केवल सरकार में बल्कि कांग्रेस के संगठन में भी रही। कांग्रेस का एक गुट एस. के. सिन्हा का समर्थन करता था तथा दूसरा गुट ए. के. सिन्हा का। पं. जवाहर लाल नेहरू ने 1952 में स्वयं हस्तक्षेप किया, जिसके फलस्वरूप कांग्रेस के दोनों गुटों ने एस. के. सिन्हा को अपना नेता मान लिया। 1956 में जातीय गुटबन्दी का बहुत बोलबाला था। कांग्रेस हाईकमान्ड ने 'पाटस्कर कमीशन' (Patskar Commission) को नियुक्त किया, जिसने अपनी रिपोर्ट में कहा कि के. वी. सहाय के अपने दल के ही उम्मीदवार ए. पी. सिन्हा ने के. वी. सहाय के विरुद्ध कार्य किया। 1962 में बिहार की राजनीति में परिवर्तन आया, जब विनोदानन्द को कांग्रेस विधायक दल का नेता चुना गया। विनोदानन्द ने नेता चुने

जाने पर ब्राह्मणों और भूमिहरों के सम्बन्धों में तनाव आ गया। 1967 के चुनाव के पश्चात् किसी दल को भी स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। अतः संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी, जिसके नेता महामाया प्रसाद सिन्हा थे। परन्तु महाया प्रसाद की सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास होने पर कांग्रेस ने शोषित दल के साथ मिलकर सरकार बनाई। परन्तु यह सरकार भी अधिक दिनों तक न चल सकी और भोला पासवान शास्त्री बिहार के मुख्यमंत्री बने। यह दूसरा अवसर था जब पिछड़ी जाति का कोई व्यक्ति मुख्यमंत्री बना। यह सरकार भी अधिक दिन न चली और राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। मध्यावधि चुनाव के पश्चात् भी कोई सरकार स्थायर न बन सकी।

(4) हरियाणा:

हरियाणा की राजनीति जातियों की राजनीति से अलग नहीं है। उदाहरण के लिए गुडगांव और महेन्द्रगढ़ के जिलों में अहीर, अहीर उम्मीदवार को ही मत देता है, अन्य किसी को नहीं। यही बात राज्य के अन्य लोगों की अन्य जाति समूहों पर भी लागू होती है। चुनावों के समय प्रायः यह नारा सुनाई पड़ता है – “जाट की बेटे जाट को, जाट का वोट जाट को।” जाति की यह बीमारी केवल हिन्दुओं में ही नहीं, बल्कि मुसलमान भी अपनी जाति के उम्मीदवार को ही वोट डालते हैं। जून 1991 अप्रैल, 1996ए 1997 और 2000 में विधानसभा के चुनाव में जाति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उम्मीदवारों का चयन जाति के आधार पर किया गया और मतदान को भी जाति ने बहुत अधिक प्रभावित किया।

(5) पंजाब:

पंजाब की राजनीति में सामाजिक और व्यावसायिक दृष्टि में रहने वाले क्षेत्रीय जाति के लोग अधिक प्रभावशाली रहे हैं। पिछले 30 वर्षों में पंजाब की राजनीति पर जाट जाति का नियन्त्रण हो गया है। जाट जाति का प्रभाव बढ़ने के दो कारण हैं – (1) गांवों में जाटों की जनसंख्या बहुत अधिक है और (2) सिखों के धार्मिक मामलों पर अधिकतर जाटों का नियन्त्रण है। प्रताप सिंह कैरों, सन्त फतेह सिंह, गुरनाम सिंह, लछमन सिंह गिल, ज्ञान सिंह राड़ेवाला सभी जाट जाति के थे और आज भी जाट का प्रभुत्व है।

अकाली दल जाति और धर्म के नाम पर चुनाव में लोगों से वोट मांगता है। 1967 के विधानसभा के आम चुनाव में अकाली दल को भारी सफलता मिली और जस्टिस गुरनाम सिंह के नेतृत्व में सरकार का निर्माण हुआ। परन्तु अकालियों की आपसी फूट और श्रीमती इन्दिरा गांधी की राष्ट्रीय नीति के कारण मध्यावधि चुनाव में अकालियों को कोई विशेष सफलता न मिली और कांग्रेस की सरकार बनी। 1977 के चुनाव में अकाली दल को महान सफलता मिली और श्री प्रकाश सिंह बादल के नेतृत्व में अकाली दल ने जनता पार्टी के साथ मिलकर सरकार का समर्थन किया। सितम्बर, 1985 में पंजाब विधानसभा के चुनाव में अकाली दल को महान सफलता मिली और अकाली दल के नेता व अध्यक्ष सरकार सुरजीत सिंह बरनाला मुख्यमंत्री बने। वास्तव में अकाली दल की सफलता जाटों पर निर्भर करती है। फरवरी, 1992 में पंजाब विधानसभा के चुनावों का सभ अकाली दलों ने बहिष्कार किया और जाटों व सिखों को चुनावों में भाग लेने से मना किया, जिस कारण केवल 28 प्रतिशत ही मतदान हुआ और कांग्रेस (इ) के बेअंत सिंह के नेतृत्व में सरकार बनी। बेअंत सिंह की हत्या के बाद जाट समुदाय के हरचरण सिंह बराड़ पंजाब के मुख्यमंत्री बने। 1997 में पंजाब विधानसभा के चुनाव में अकाली दल को बहुमत प्राप्त हुआ और अकाली दल के नेता प्रकाश सिंह बादल मुख्यमंत्री बने।

2.3.8 निष्कर्ष

जाति व्यवस्था एक सामाजिक बुराई है जो प्राचीन काल से भारतीय समाज में मौजूद है। लम्बे समय से विद्वानों व आम नागरिकों ने इसकी आलोचना कर रहे हैं, लेकिन फिर भी जाति व्यवस्था ने हमारे देश के सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था पर अपनी पकड़ मजबूत बनाए रखी है। काका कालेलकर के अनुसार “जाजिवाद एक अबाधित अंध और सर्वोच्च समूह भक्ति है जो कि न्याय, औचित्य, समानता और विश्व बंधुत्व की उपेक्षा करता है।” उपरोक्त जातिवाद की परिभाषा से स्पष्ट है कि, जातिवाद एक संकीर्ण भावना है।

2.3.9 मुख्य शब्दावली

- जातिवाद
- सम्प्रदाय
- आरक्षित सूची
- दबाव समूह
- पृथक् निर्वाचन

2.3.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में जाति का क्या महत्व है? व्याख्या कीजिए।
2. भारतीय राजनीति को जाति कैसे प्रभावित करती है, वर्णन कीजिए।
3. भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका व प्रभावों का वर्णन कीजिए।

2.3.11 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Corner Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B. Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, Federalism in India: A Study of Union-State Relations, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J. Harriss, Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, State Politics in India, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, India: Government and Politics in a Developing Nations, New York, Harcourt, Braque and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). Democracy in India, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) Indian Government and Politics, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, Politics in India, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, Party System and Election Studies, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, Government and Politics in India, Delhi, BI Publications, 1974.
- A.C. Noorani, Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, An Introduction to the constitution of India, New Delhi, 1998.
- A. Ray, Tension Areas in India's Federal System, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). Coalition Politics in India, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

2.4 धर्म एवं साम्प्रदायिकता

(Religion and Communalism)

2.4.1 परिचय

भारतीय संविधान ने भारत को धर्म-निरपेक्ष (Secular) राज्य घोषित किया है। परन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के 46 वर्ष के बाद भी धर्म-निरपेक्ष समाज की स्थापना नहीं हो सकी। देश में साम्प्रदायिकता एक संक्रामक रोग की तरह फैल रही है। धार्मिक विभिन्नताओं के कारण तनाव पैदा होते रहते हैं, हिंसात्मक कार्यवाही होती है: लोगों की हत्याओं की जाती हैं तथा सम्पत्ति को लूटा व जलाया जाता है। जो समुदाय पहले कभी एक-दूसरे के समीप रहे हैं तथा जिनमें शादी-विवाह जैसे सामाजिक सम्बन्ध थे और जो अपने बच्चों को सहयोगी धर्म में बदलवा लिया करते थे, वे भी साम्प्रदायिकता की लपेट में आ गए हैं। साम्प्रदायिकता भारत के लोकतंत्र के लिए एक अभिशाप है। यदि इस समस्या का निराकरण नहीं किया गया, तो यह घातक सिद्ध होगी।

2.4.2 उद्देश्य

- साम्प्रदायिकता के अर्थ को जानना।
- भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता के कारणों को समझना।
- धर्म और राजनीति को समझना।
- साम्प्रदायिकता के प्रभावों को जानना।

2.4.3 साम्प्रदायिकता का अर्थक

(Meaning of Communalism)

‘साम्प्रदायिकता’ शब्द का साधारण अर्थ सामाजिक-धार्मिक समूह की वह प्रवृत्ति है जिसके अनुसार वह अपनी सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक शक्ति के दूसरे ऐसे ही समूहों की तुलना में बढ़ाता है। विसेट स्मिथ के अनुसार, “एक साम्प्रदायिक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह वह है जो कि प्रत्येक धार्मिक या भाषायी समूह को एक ऐसी पृथक सामाजिक तथा राजनैतिक इकाई मानता है जिसके हित अन्य समूहों से पृथक होते हैं या विरोधी भी हो सकते हैं।” भारतीय राजनैतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में ‘साम्प्रदायिकता’ शब्द नकारात्मकरूप में समझा जा सकता है। साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी भावनाएँ व कार्य शामिल हैं जिसमें किसी धर्म या भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाता है और उन हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर भी प्राथमिकता दी जाए तथा उस समूह में पृथकता की भावना पैदा हो जाए या उसको प्रोत्साहन दिया जाए।

सम्प्रदावादी दृष्टिकोण राष्ट्र-विरोधी दृष्टिकोण तक हो सकता है। उनको राष्ट्र-विरोधी इसलिए कहा जा सकता है कि वे राष्ट्रीय हितों की अवहेलना करके ऐसी मांगों के लिए कार्यवाही कर सकते हैं जो राष्ट्र की अखण्डता के लिए हानिकारक हों। भारत में साम्प्रदायिकता एक भयंकर समस्या है। इसके समूल नाश के लिए पहले यह आवश्यक है कि इसके उदय के कारणों को जाना जा, इसके सभी पहलुओं-सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा राजनैतिक का अध्ययन किया जाए और उन्हें दूर करने के उचित कदम उठाएँ जाएँ।

2.4.4 भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता

(Communalism in Indian Politics)

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले जहाँ भारत में साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दू-मुस्लिम दंगे एक आम बात थी, वहाँ इसके कारण अब भी दंगे होते रहे हैं। प्रमुख समुदायों ने अपने को साम्प्रदायिक तथा धार्मिक कट्टरता के आधार पर

संगठित किया है जिससे कि विभिन्न समुदायों में लड़ाई-झगड़े तथा हिंसात्मक कार्यवाहियाँ होती हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता तथा मौलिकतावाद में दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है जिसका प्रभाव देश की राजनीति पर पड़ रहा है। उनकी विचारधारा से उत्पन्न उनके कार्यों का उल्लेख निम्नलिखित भागों में किया जा सकता है:

1. साम्प्रदायिक हिंसा (Communal Violence): भारत एक सम्प्रदाय बहुल-राष्ट्र हैं जिसमें हिन्दुओं की जनसंख्या सबसे अधिक है। इसके बाद मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध आदि हैं। इस प्रकार हिन्दुओं को छोड़कर शेष अल्पसंख्यक हैं। इस दृष्टि से भारत को अल्पसंख्यकों का देश कहा जा सकता है। इसी कारण साम्प्रदायिकता एक भयंकर समस्या बन गई है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति, 1947 से लेकर 1978 तक 9,500 साम्प्रदायिक घटनाएँ घटी जिनमें 150 व्यक्ति मारे गए तथा 2,953 घायल हुए। ये साम्प्रदायिक दंगे दक्षिण तथा उत्तर भारत दोनों में ही हुए। 1978 में आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल तथा तमिलनाडु में दंगे हुए। 1982 में हिन्दुओं और ईसाइयों के मध्य कन्याकुमारी में दंगे हो गए थे। दिसम्बर, 1982 में हैदराबाद तथा द्रावनकोर कोचीन में झगड़े हुए। 1979 में कश्मीर, बिहार, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, त्रिपुरा, असम, गुजरात, महाराष्ट्र आदि में भी दंगे हुए। इस वर्णन से स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक दंगे भारत के किसी एक क्षेत्र तक सीमित न होकर सम्पूर्ण देश में होते रहते हैं। दंगों के लिए अलीगढ़, मेरठ, मुरादाबाद, बड़ौदा तथा हैदराबाद विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। 1984 में भी पश्चिमी बंगाल, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश और महाराष्ट्र में कुछ दंगों को छोड़ कर सम्पूर्ण देश में साम्प्रदायिक स्थिति अपेक्षाकृत शान्त रही। 1990 में भारत में भयंकररूप से साम्प्रदायिक दंगे हुए और हिंसात्मक घटनाएँ हुईं। दिसम्बर 1992 में अयोध्या में बाबरी मस्जिद के ढाँचे को गिराने के परिणामस्वरूप साम्प्रदायिकता की भावना को बहुत ही प्रबल शक्ति प्राप्त हुई तथा स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे भी हुए। इसी साम्प्रदायिक की भावना के कारण बम्बई में बम विस्फोट काण्ड हुआ जिसमें सैकड़ों लोगों की जानें गयीं। बम्बई के दंगों के विषय में ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि हजारों लोग इन दंगों में मारे गए। कहने का अर्थ यह है कि भारत की राजनीति में साम्प्रदायिकता अपना भयंकररूप धारण कर चुकी है।
2. पंथों सम्बन्धी दंगे (Sectarian Riots): धर्म के आधार पर सम्प्रदायों में अनेक पंथ भी हैं जिसमें आपस में दंगे रहते हैं। उदाहरण के लिए, लखनऊ में शिया और सुन्नियों (जो मुस्लिम सम्प्रदायों के पंथ हैं) में प्रतिवर्ष झगड़े होते हैं। कानपुर और अमृतसर में सिक्खों और सिक्खों के ही पंथ राधास्वामियों के मध्य दंगे होते हैं। यद्यपि सिक्किम में कोई दंगे नहीं हुए परन्तु वहाँ दो संगठन-लेपचा तथा भूटियों के संगठित हो रहे हैं। मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा आदि में कबीलों और गैर-कबीलों में झगड़े हो जाते हैं।
3. मुस्लिम बहुमत क्षेत्र का गठन (Creation of Muslim Majority Region): सम्प्रदाय के आधार पर क्षेत्र का गठन बहुत हानिकारक है। परन्तु केरल में एक जिला मुस्लिम बहुमत का बनाया गया। केरल में 1982 में ईसाई बहुमत जिले की मांग की गई थी।
4. धार्मिक स्थानों पर राजनैतिक उद्देश्यों के लिए दुरुपयोग (Misuse of Religious Places for Political Purposes): धार्मिक स्थानों का दुरुपयोग भी साम्प्रदायिकता का एकरूप है। उदाहरण के लिए अकाली दल अमृतसर के 'स्वर्ण मंदिर' का दुरुपयोग राजनैतिक मांगों की पूर्ति के लिए कर रहा था। बहुत-से उग्रवादी मंदिर में रहते हुए राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों में भाग ले रहे थे। परिणामस्वरूप, भारत सरकार को उग्रवादियों को मन्दिर से निकालने के लिए सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी।

2.4.5 भारत में साम्प्रदायिकता के कारण

(Causes of Communalism in India)

भारत में स्वतन्त्रता से पूर्व ब्रिटिश सरकार ने नीतियों में बढ़ते हुए राष्ट्रवाद को रोकने के लिए 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को अपनाते हुए सम्प्रदायवाद को बढ़ावा दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यद्यपि संविधान

ने भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया, परन्तु 43 वर्ष के बाद साम्प्रदायवाद की समस्या के लिए कम उत्तरदायी नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि हमने भले ही भारत को धर्म-निरपेक्ष घोषित किया हो परन्तु धर्म-निरपेक्ष समाज की स्थापना करने में असफल रहे। भारत में साम्प्रदायवाद के कारणों का वर्णन निम्नलिखित भागों में किया जा सकता है:

1. औपचारिक विरासत (Colonial Legacy): स्वतंत्रत भारत को साम्प्रदायवाद की समस्या का एक विरासत के रूप में प्राप्त हुई है। ब्रिटिश सरकार ने भारत में 1857 ई० के प्रथम स्वतंत्रता आन्दोलन के बाद शासन नीति का आधार 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) निश्चित किया था। अंग्रेज 1857 के विद्रोह को मुस्लिम विद्रोह मानते थे, यद्यपि इस विद्रोह में हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर अंग्रेजों का विरोध किया था। इस कारण उन्होंने मुसलमानों के विरोध और दमन की नीति अपनाई तथा हिन्दुओं को गले गलाया। जब भारत में राष्ट्रवाद की भावना बढ़ने लगी तो उसे रोकने के लिए मुसलमानों का समर्थन आरम्भ कर दिया। अंग्रेजों के समर्थन पर ही सर सैयद अहमद खॉ ने 1857 ई० में अलीगढ़ में एम० ए० ओ० कॉलेज की स्थापना की जिसके प्राचार्य एक अंग्रेज आर्कवोल्ड नियुक्त किए गए। गवर्नर-जनरल लॉर्ड कर्जन ने मुसलमानों को खुश करने तथा उनकी राज-भक्ति प्राप्त करने के लिए 1905 ई० में बंगाल का विभाजन किया जिसके अनुसार मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्त का निर्माण किया गया। यद्यपि 1911 ई० में इस विभाजन को समाप्त कर दिया परन्तु साम्प्रदायवाद का आरम्भ हो चुका था। ब्रिटिश सरकार के ही सुझावों पर 1906 ई० में मुसलमानों के राजनैतिक अधिकारों की रक्षा के लिए 'आल इण्डिया मुस्लिम लीग' की स्थापना की गई। इसी प्रकार गवर्नर-जनरल लॉर्ड मिण्टों के सुझावों पर भारत परिषद् कानून, 1909 के द्वारा मुसलमानों को जहाँ साम्प्रदायिक चुनाव की व्यवस्था की गई वहाँ उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक विधान-परिषदों में प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई। भारत सरकार ने कानून, 1919 के द्वारा सिक्खों, यूरोपियन तथा आंग्ल-भारतीयों के लिए अलग से प्रतिनिधि चुनने की व्यवस्था की। मैकडोनाल्ड अवार्ड 1932 के द्वारा हरिजन वर्ग को अलग प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया जिसे पूना पैक्ट के द्वारा संशोधित कर दिया गया।

भारत सरकार कानून, 1935 के अनुसार 1937 में प्रान्तों की विधान-सभाओं के जो चुनाव हुए उनमें मुस्लिम लीग को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। मुस्लिम लीग और उसके प्रमुख नेताओं जिन्ना ने मुसलमानों में साम्प्रदायवाद का जोरदार प्रचार किया। 1940 में मुस्लिम लीग ने अलग राष्ट्र पाकिस्तान की मांग की। यह मांग भी ब्रिटिश सरकार के समर्थन पर की गई थी। 1940-47 के मध्य ब्रिटिश सरकार ने इस प्रकार की स्थिति पैदा कर दी जिससे मुस्लिम साम्प्रदायवाद इतना तीव्र हो गया कि भारत का विभाजन निश्चित हो गया। विभाजन के बाद साम्प्रदायिक दंगे हुए जिसमें लाखों हिन्दू तथा मुसलमान मारे गये। बहुत से मुसलमान पाकिस्तान चले गए। जो भारत में रह गये उन्हें संदिग्ध दृष्टि से देखा जाने लगा। इससे उनकी राजनैतिक और आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

2. राष्ट्रीय आन्दोलन की नकारात्मक विरासत (Negative Legacy of National Movement): साम्प्रदायिकता की समस्या राष्ट्रीय आन्दोलन के नकारात्मक विरासत के रूप में मिली है। भारत में राष्ट्रवाद के उदय से पहले विभिन्न समुदायों, विशेषरूप से हिन्दू और मुसलमानों, में धार्मिक सुधार आन्दोलन शुरू हुए थे। इसका प्रभाव यह हुआ कि प्रत्येक साम्प्रदाय अपने धर्म, संस्कृति और सभ्यता को श्रेष्ठ मानने लगा। इधर भारत में राष्ट्रवाद का उदय ब्रिटिश सरकार की उपनिवेशवादी नीतियों के विरुद्ध हुआ था। इस कारण भारतीय लोग विदेशी धर्म (ईसाई), विदेशी संस्कृति और विदेशी शासन का विरोध कर रहे थे। इस विरोध के कारण भारत में एक नये प्रकार के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का उदय हुआ। जैसे-जैसे राष्ट्रवाद की भावना में तीव्रता आई, धर्म और सांस्कृतिक का आधार मजबूत होता गया। उग्रवादी काल में उग्रवादी नेताओं ने हिन्दू धर्म के

आधार पर ही अपने को संगठित किया जिसे मुसलमानों ने संदेह की दृष्टि से देखा। ब्रिटिश सरकार की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति ने इस संदेह की भावना को साम्प्रदायिकता की भावना में बदल दिया। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ साम्प्रदायिक प्रक्रिया भी बढ़ती रही। महात्मा गांधी ने जब असहयोग आन्दोलन चलाया तो उसके साथ खिलाफत आन्दोलन भी चलाया गया। खिलाफत आन्दोलन का उद्देश्य साम्प्रदायिक था। इसका प्रभाव भविष्य में हानिकारक हुआ। ब्रिटिश सरकार की नीति सफल हो रही थी और वे काफी सीमा तक मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखने में सफल हो रहे थे तथा मुसलमानों में साम्प्रदायिकता का विशाल वृक्ष बना रहे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता इस समस्या को सुलझाने में असमर्थ रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् 1947 में भारत का विभाजन हो गया। पाकिस्तान का निर्माण ही मुस्लिम साम्प्रदायिकता के आधार पर हुआ है।

3. मुसलमानों में अलग रहने की भावना (Muslim's Tendency to keep Aloof): स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मुसलमान अपने को राष्ट्रीय धारा में शामिल नहीं कर सके। अनेक मुस्लिम नेताओं ने इस बात का प्रचार किया कि मुसलमानों को ऐसे राजनैतिक दलों में शामिल होना चाहिए जो धर्म-निरपेक्षता, समाजवाद और आर्थिक न्याय में विश्वास करते हैं। परन्तु इसका उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इसके विपरीत, अनेक मुस्लिम नेताओं ने मुसलमानों के हितों से रक्षा के लिए मुस्लिम संगठनों में शामिल होने का प्रचार किया। जमायते इस्लाम ने मुसलमानों का सलाह दी कि उन्हें चुनाव में भाग नहीं लेना चाहिए। सन् 1961 में 'अखिल भारतीय मुस्लिम लीग' की स्थापना की गई और प्रचार किया गया कि वही मुसलमानों के हितों की रक्षा कर सकती है। कहने का अर्थ यह है कि मुसलमानों में जो राष्ट्रीय धारा से अलग रहने की प्रवृत्ति है उससे सम्प्रदायवाद की वृद्धि होती है।
4. मुसलमानों का आर्थिक दृष्टि से पिछड़ापन (Economic Backwardness of the Muslims): अंग्रेजों के शासनकाल में वैसे तो सारा भारतवर्ष ही आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ था, परन्तु मुसलमान लोग हिन्दुओं से अधिक पिछड़े हुए थे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद यह आशा की गई थी कि मुसलमान अवसरों का पूरा लाभ उठाएँगे, परन्तु वे ऐसा न कर सके। शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े होने के कारण सरकारी नौकरियों, व्यापार और उद्योग-धन्धों में उनकी स्थिति नहीं सुधरी। उनका आधुनिकीकरण नहीं हो गया है। हिन्दुओं और मुसलमानों में आर्थिक दृष्टि से बहुत अन्तर हो गया है। मुसलमान यह समझते हैं कि उनका आर्थिक शोषण किया जा रहा है। इससे उनमें असन्तोष पैदा होता है, सम्प्रदायवाद की वृद्धि होती है, जो कभी भी हिंसा कारूपले लेती है।
5. पाकिस्तान द्वारा प्रचार (Propaganda by Pakistan): पाकिस्तान की स्थापना इस आधार पर की गई थी कि हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं जो आपस में मिलकर नहीं रह सकते। पाकिस्तान की स्थापना के बाद यह आशा की जाती थी कि वह अपने राष्ट्र निर्माण के लिए कार्य करेगा और भारत के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा, परन्तु पाकिस्तान अपने को भारत के मुसलमानोंका रक्षक समझता है। इसी कारण भारत में जब कभी हिन्दू-मुस्लिम तनाव की कोई घटना हो जाती है तो पाकिस्तान रेडियो और समाचार-पत्र इसका बड़े जोर-शोर से प्रचार करते हैं। पाकिस्तान भारत सरकार की आलोचना करता है और हिन्दुओं को ही उत्तरदायी ठहराता है। इससे भारतीय मुसलमानों की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।
6. संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद (Hindu Fanaticism): भारत में हिन्दू सम्प्रदाय में भी ऐसे लोग और संस्थाएँ हैं जो संकुचित राष्ट्रवाद में विश्वास रखते हैं। वे सभी मुसलमानों को भारत के विभाजन के लिए उत्तरदायी मानते हैं। हिन्दू महासभा ऐसा ही संगठन है। वह प्रचार करती है कि भारत हिन्दुओं का देश है और हिन्दुओं को ही इस देश में रहने का अधिकार है। इससे हिन्दुओं में सम्प्रदायवाद की भावना पैदा होती है। हिन्दुओं में

सम्प्रदायवाद का विकास मुस्लिम सम्प्रदायवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। इसका परिणाम यह होता है कि हिन्दू मुस्लिम दंगे हो जाते हैं जिससे सम्प्रदायवाद को और भी प्रोत्साहन मिलता है।

7. सरकार की उदासीनता (Indifferent Attitude of the Government): सरकार और प्रशासन की उदासीनता के कारण भी साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं। ऐसे क्षेत्र में, जिनमें दंगे हो चुके हैं, भविष्य में नियंत्रण के लिए सरकार उचित व्यवस्था नहीं करती। इसके अलावा, मुसलमानों की छोटी-सी शिकायत कि उर्दू के लिए उचित प्रचार नहीं हो रहा है आज तक दूर नहीं की गई। जो संगठन सम्प्रदायवाद को बढ़ावा देते हैं उन पर भी रोक नहीं लगाई गई है।
8. साम्प्रदायिक शिक्षा संस्थाएँ (Communal Institutions): देश में अनेक शिक्षा संस्थाएँ, जैसे स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय, साम्प्रदायिक आधार पर बनाई गई है। ये संस्थाएँ विशेष सम्प्रदाय के व्यक्तियों द्वारा चलाई जाती हैं, उसी सम्प्रदाय के अध्यापक और प्राध्यापक इनमें नियुक्त किए जाते हैं तथा उनके माध्यम से सम्प्रदायवाद का प्रचारकिया जाता है। ऐसी संख्याएँ – हिन्दू कॉलेज, हिन्दू स्कूल, मुस्लिम स्कूल, मुस्लिम कॉलेज, ईसाई स्कूल, ईसाई कॉलेज, खालसा स्कूल, मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़, हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस आदि हैं।
9. धार्मिक कट्टरता (Religious Fanaticism): विभिन्न सम्प्रदायों की धार्मिक कट्टरता भी सम्प्रदायवाद में वृद्धि करती है। उदारण के लिए, बड़ौदरा में 1981-82 में 15 हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। गणपति, नवरात्रि और ताजिया जुलूस निकाले गए। शिवाजी जयनती, जो पहले कभी नहीं मनाई गई थी, बड़े जोर-शोर से मनाई गई थी। इसी प्रकार केरल में रातो रात गिरजाधर बना दिया गया। इस प्रकार की धार्मिक कट्टरता से भी सम्प्रदायवाद को बढ़ावा मिलता है।
10. सामाजिक कारण (Social Causes): भारत में सम्प्रदायवाद के विकास के कारणों मेंसे एक कारण सामाजिक कारण भी है। भारत में मुसलमान हिन्दुओं को अपने धर्म में परिवर्तित करते हैं, उससे भी दोनों सम्प्रदायों में तनाव पैदा होता है।
11. राजनैतिक कारण (Political Causes): स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद मुसलमान लोग भी स्थानीय क्षेत्र की राजनीति में भाग लेने लगे हैं, जिसे कुछ साम्प्रदायिकता हिन्दू नेता पसन्द नहीं करते। आपसी राजनैतिक तनाव साम्प्रदायिक तनाव में बदल जाता है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि भारत में सम्प्रदायवाद के अनेक कारण हैं। भारत की एकता और अखण्डता के लिए आवश्यकता है कि सभी सम्प्रदाय आपस में मिलकर रहें और अपने सम्प्रदाय के हितों को राष्ट्रीय हितों से ऊपर न समझें। यद्यपि सम्प्रदायवाद की समस्या एक सामाजिक समस्या थी परन्तु वह अब राजनैतिक समस्या बन चुकी है जो राष्ट्र के लिए बहुत हानिकारक है। इससे विघटनकारी शक्तियाँ पैदा होती हैं जो राष्ट्र की अखंडता के लिए हानिकारक है। यदि समय रहते सम्प्रदायवाद को समाप्त नहीं किया गया तो राष्ट्र की अखंडता खतरे में पड़ सकती है।

2.4.6 धर्म और राजनीति में अन्तः क्रिया

(Interactions Between Religion and Politics)

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्वों में 'धर्म और साम्प्रदायिकता' अत्यन्त प्रभावशाली तत्व माना जाता है। धर्म का प्रयोग राजनीति में जहाँ एक ओर तनाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है वहाँ दूसरी ओर प्रभाव और शक्ति अर्जित करने का भी धर्म माध्यम मान लिया जाता है। जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी और जय गुरुदेव की राजनीति शक्ति की आधारशिला उनके अपने-अपने सम्प्रदायों में अनुयायियों का संख्या बल है। धर्म के आधार पर राजनीतिक दलों का निर्माण होता है, चुनावों में समर्थन और मत प्राप्त करने के लिए धर्म का सहारा लिया जाता है। जनता से की जाने वाली अपीलें, उन्हें दिए जाने वाले आश्वासनों, निर्वाचनों में प्रत्याशियों के चयन

तथा मतदान व्यवहार में धर्म का राजनीतिक स्वरूप देखने को मिलता है। स्वतन्त्रता के 55 वर्षों के बाद भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच ऐसा एकीकरण विद्यमान था, उदाहरणार्थ, हिन्दुओं और सिक्खों में, वहाँ भी इसे रूढ़िवाद एवं साम्प्रदायिकता के बढ़ते हुए विरोध का खतरा पैदा हो गया है। धर्म और सम्प्रदाय पंथ निरपेक्ष संविधान अपनाए जाने के बाद भी भारतीय राजनीति के स्वरूप को निम्नलिखित ढंग से प्रभावित करते रहे हैं।

1. धर्म और राजनीतिक दल: स्वाधीनता के बाद पंथ और सम्प्रदाय के आधार पर भारत में राजनीतिक दलों का गठन हुआ है। मुस्लिम लीग, शिरोमणि अकाली दल, राम राज्य परिषद, हिन्दू महासभा, आदि राजनीतिक दलों के निर्माण में पंथिक और साम्प्रदायिक तत्त्वों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यदि साम्प्रदायिकता एक रोग है और वह भी संक्रामक तो इन दलों के शासन और राजनीति पर प्रभाव को सहज ही आंका जा सकता है। ये साम्प्रदायिक दल पंथ को राजनीति में प्रधानता देते हैं, पंथ के आधार पर चुनावों में प्रत्याशियों का चुनाव करते हैं, और सम्प्रदाय के नाम पर वोट मांगते हैं। चुनावों में धार्मिक मुद्दों जैसे गौ-वध को बन्द करवाने राम मन्दिर का निर्माण, आदि का प्रयत्न करते हैं। प्रो० मॉरिस जोन्स ने लिखा है, “यदि साम्प्रदायिकता को संकुचित अर्थ में लिखा जाए अर्थात् कोई राजनीतिक पार्टी किसी विशेष पंथिक समुदाय के राजनीतिक दावों की रक्षा के लिए बनी हो तो कुछ पार्टियाँ ऐसी हैं जो स्पष्टरूप से अपने को साम्प्रदायिक कहती हैं जैसे मुस्लिम लीग जो भारत के सिर्फ दक्षिण भारत में रह गयी है और जो मालाबार मोपला समुदाय के बल पर केवल केरल में ही शक्तिशाली है सिक्खों की अकाली पार्टी जो सिर्फ पंजाब में ही है, हिन्दू महासभा जो सिद्धान्तरूप में एक अखिल भारतीय पार्टी है, किन्तु मुख्यरूप से मध्य प्रदेश और उसके आस-पास इलाकों में शक्तिशाली है” जनसंघ दल के बारे में मॉरिस जोन्स लिखते हैं, “जब तक कट्टरता की मनोवृत्ति से पूर्ण आर० एस० एस० जिसमें हिन्दू सांस्कृतिक जोश और सैन्यवादी ट्रेनिंग दोनों का संयोग है जनसंघ की आड़ में जुटकर काम करता रहेगा, तब तक साम्प्रदायिकता इस पार्टी का एक महत्वपूर्ण पहलू बनी रहेगी।”

यदि साम्प्रदायिकता को व्यापक अर्थ में लिया जाए अर्थात् सम्पूर्ण हिन्दू समाज के ही भीतर किसी सामाजिक-धार्मिक समुदाय के साथ सम्बन्ध के रूप में लिया जाए तो सभी पार्टियों में किसी न किसी स्तर पर और कुछ न कुछ मात्रा में ऐसी साम्प्रदायिकता अवश्य मिलेगी, यहाँ तक कि कांग्रेस भी इससे मुक्त नहीं है। केरल में ईसाई समुदाय के साथ कांग्रेस का ऐसा गठजोड़ रहा है कि इसे संकुचित दृष्टि से भी साम्प्रदायिक कहा गया है। यहाँ तक कि साम्यवादियों ने भी कुछ जगहों पर और कतिपय प्रयोजनों के लिए साम्प्रदायिक क्षेत्र तैयार कर लिए हैं।

2. धर्म और निर्वाचन: भारत में अधिकांश राजनीतिक दल और उनके नेता चुनावों में पंथ और सम्प्रदाय की दलीलों के आधार पर वोट मांगते हैं। वोट के लिए मठाधीशों, इमामों, पादरियों और साधुओं के साथ सांठ-गांठ की जाती है। मतदान के अवसर पर मत मांगने वाले और मतदान करने वालों के आचरण पर पंथिक तत्व छाए रहते हैं। मार्च 1977 और जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावों के दिनों में दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम की भूमिका से आसानी से यह समझा जा सकता है कि पंथिक नेता राजनीतिक दलों से मुस्लिम सम्प्रदाय के वोटों का किस प्रकार सौदा करते हैं? राजनीतिक नेता की भांति शाही इमाम ने चुनाव सभाओं में भाषण दिए और मुस्लिम सम्प्रदाय के मतदाताओं को किसी विशेष राजनीतिक दल के पक्ष में मतदान करने के लिए प्रेरित किया। किसी संवाददाता ने लिखा है, “सवाल उठता है कि समाजवाद और गणतन्त्र की बात करने वाले अगर इमाम के नाम से वोट पाना चाहेंगे तो हो सकता है कि बलराज मद्योक जैसे लोग शंकराचार्य के नाम पर वोट मांगने लगे। फिर क्या इस देश को इमाम और शंकराचार्य के बीच चुनाव करना पड़ेगा? जिमोरम के चुनाव में जारी एक पर्चे में कांग्रेस (इ) ने कहा था कि वह ईसाई अधिकारों के लिए लड़ेगी। धर्मनिरपेक्षता का हलफ उठाने के बाद भी वी० पी० सिंह लोकसभा चुनावों से

पूर्व अब्दुल्ला बुखारी जैसे कट्टरवादियों से रिश्ते बनाते हैं तो स्पष्ट है कि राजनीतिक दलों की निगाहें कबीब 100 महत्त्वपूर्ण चुनाव क्षेत्रों में मुस्लिम सम्प्रदाय के 20 प्रतिशत वोट हथियाने के लिए लालायित हैं।

3. राजनीति में धार्मिक दबाव गुट: साम्प्रदायिक संगठन भारतीय राजनीति में सशक्त दबाव समूहों की भूमिका अदा करने लगे हैं। ये पंथिक गुट शासन की नीतियों को प्रभावित करते हैं और कभी-कभी अपने पक्ष में अनुकूल निर्णय भी करवाते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दुओं की आपत्ति और आलोचना के बावजूद 'हिन्दू कोड बिल' पास कर दिया गया, किन्तु दूसरे सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया जा सका। स्वतन्त्रता के बाद अनेक मुस्लिम संगठनों, जैसे जीमयत-उल उलेमा-ए-हिन्द, अमारते शरिया, जमायते इस्लामी, आदि ने कम से कम तीन बातों के लिए सरकारी नीतियों को प्रभावित कर 'दबाव गुटों' की भूमिका अदा की है। ये तीन बातें हैं—उर्दू को संविधानिक संरक्षण दिया जाए, अलीगढ़ विश्वविद्यालय का अल्पसंख्यक स्वरूप स्थापित किया जाए और मुस्लिम पर्सनल लॉ के बारे में कोई तब्दीली न की जाए।
4. धर्म के आधार पर पृथक् राज्यों की मांग: कई बार परोक्षरूप से पंथ के आधार पर पृथक् राज्यों की मांग भी की जाती रही है। अकाली दल पंजाबी सूबे की मांग ऊपरी तौर से भाषायी आधार की मांग नजर आती है, किन्तु यथार्थ में यह पंथ के आधार पर ही पृथक् राज्य की मांग थी। 2 नवम्बर, 1949 को मास्टर तारासिंह ने पूर्वी पंजाब में एक 'सिक्ख प्रान्त' की मांग करते हुए कहा कि पूर्वी पंजाब के हिन्दू 'संकीर्ण हृदय वाले सम्प्रदायी' हो गए हैं और 'सिक्खों को उनसे उचित व्यवहार की आशा नहीं रह गयी।' सन्त फतेहसिंह के अनुयायी सिक्ख 'होम लैण्ड' की मांग करने लगे। उनका कहना था कि 'उत्तर भारत में एक समाजवादी लोकतन्त्रीय सिक्ख होम लैण्ड' की स्थापना ही सिक्ख राजनीति का वास्तविक एवं एकमात्र लक्ष्य है। पुराने राज्य का विभाजन वस्तुतः पंथ के आधार पर ही हुआ था। इसी प्रकार नागालैण्ड के ईसाइयों की पृथक् राज्य की मांग का आधार भी पंथगत निष्कर्ष थीं।
5. मन्त्रिमण्डल, के निर्माण में पंथिक आधार पर प्रतिनिधित्व: केन्द्र और राज्यों में मन्त्रिमण्डल बनाते समय सदैव इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि प्रमुख सम्प्रदायों और पंथिक विश्वासों वाले व्यक्तियों को उनमें प्रतिनिधित्व मिल जाए। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में अल्पसंख्यकों, जैसे मुसलमानों, सिक्खों, ईसाइयों को सदैव प्रतिनिधित्व दिया जाता है।
6. धर्म और राष्ट्रीय पंथ और साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता के लिए घातक माने जाते हैं। धार्मिक मतभेदों के परिणामस्वरूप ही हमारे देश का विघटन हुआ था और उसी के कारण आज भी विघटनकारी तत्व सक्रिय हैं।
7. राज्यों की राजनीति में धर्म की प्रभावक भूमिका: पंथ और साम्प्रदायिक समुदायों का भारतीय राजनीति में कितना प्रभाव है, केरल और पंजाब राज्यों की राजनीति इसके लिए सन्दर्भ प्रस्तुत करती है। केरल की राजनीति का ऊपरी प्रभाव है, केरल और पंजाब राज्यों की राजनीति इसके लिए सन्दर्भ प्रस्तुत करती है। केरल की राजनीति का ऊपरी आवरण चाहे वामपन्थी रंग में रंगा हुआ नजर आए, किन्तु उसका अन्तरंग धार्मिक और साम्प्रदायिक गुटों के गठजोड़ से बनता है। राज्य-राजनीति में दो प्रकार के दबाव समूह पाए जाते हैं—साम्प्रदायिक और व्यावसायिक। साम्प्रदायिक दबाव समूहों में नया सर्विस सोसायटी, श्रीनारायण धर्म परिपालन युगम और अनेक ईसाई संगठन प्रमुख हैं। जमींदार, धनिक वर्ग, व्यापारी, आदि इन्हीं संगठनों से जुड़े हैं, अतः ये साम्प्रदायिक व धार्मिक गुट शासन की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। प्रगतिशील समझे जाने वाले साम्प्रदायिक व धार्मिक गुट शासन की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। प्रगतिशील समझे जाने वाले साम्यवादी दल भी केरल में पंथिक दबाव गुटों से अपना तालमेल बिठाकर चुनाव रणनीति तैयार करते हैं।

पंथ और राजनीति की अन्तःक्रिया को समझने के लिए पंजाब राज्य की राजनीति विशिष्ट महत्व रखती है। पंजाब की राजनीति सदा अकाली दलों की आन्तरिक राजनीति तथा सशक्त और समृद्ध शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्ध समिति के निर्वाचनों के इर्द-गिर्द घूमती रही है। अधिक दूर न जाकर पिछले एक दशक की राजनीतिक घटनाओं का विश्लेषण करें तो धर्म की राजनीतिक भूमिका का अनुमान लगाया जा सकता है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति के चुनाव प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से अकाली दल की राजनीति को प्रभावित करते हैं और अकाली दल पंजाब की राजनीति को। सिक्ख पंथ के सर्वोच्च धार्मिक नेताओं द्वारा अकाल तख्त से जारी किए गए 'फरमान ने अकाली दल के प्रधान के चुनाव रोक दिया। स्वर्ण मन्दिर के सामने स्थित अकाल तख्त की स्थापना गुरु गोविन्दसिंह ने एक राजनीतिक शक्ति के रूप में की थी। पंजाब की राजनीति में अकाल तख्त का स्वरूप एवं भूमिका एक समानान्तर सरकार की भांति है जिस पर समकालीन सरकार के आदेश लागू नहीं होते। अनेक बार धार्मिक विवादों के साथ-साथ राजनीतिक विवादों के बारे में भी फैसले अकाल तख्त करता है।

2.4.7 साम्प्रदायिकता की समस्या का समाधान (Solution of Problem of Communalism)

राष्ट्र की एकता और उन्नति के लिए साम्प्रदायिकता को समाप्त करना अति आवश्यक है। 31 दिसम्बर, 1973 को प्रैस सम्मेलन में श्रीमती गांधी ने कुछ दिन पूर्व हुए साम्प्रदायिक दंगे-फसादों पर गहरी चिन्ता व्यक्त की। उन्होंने कहा कि इस प्रकार के दंगे-फसादों में किसी को लाभ नहीं होगा। 18 दिसम्बर, 1979 को प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने मुख्यमन्त्रियों और विपक्षी दलों के नेताओं के एक सम्मेलन में बोलते हुए राजनीतिक दलों से अपील की कि वे साम्प्रदायिकता के प्रश्न का दलगत उद्देश्यों के लिए लाभ उठाने का प्रयास न करें। उन्होंने कहा है कि राजनीतिक भावनाओं से ऊपर उठकर एक समान आचरण संहिता बनाई जाए जिसका हर कोई पालन करे। श्री देसाई ने कहा कि साम्प्रदायिकता का कैंसर राष्ट्र जीवन से निकाल फेंकना जरूरी है और इसके लिए यह उचित है कि सभी नता मिल कर उपाय करें। 25 जनवरी, 1993 को गणतन्त्र दिवस की पूर्व संध्या पर राष्ट्र के नाम संदेश में राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा ने कहा कि जब तक साम्प्रदायिकता की समस्या से हमें मुक्ति नहीं मिलती है तब तक एक राष्ट्र के रूप में हम अपनी समपूर्ण क्षमताओं का उपयोग नहीं कर पाएंगे। राष्ट्रपति ने साम्प्रदायिकता को समूल नष्ट करने की आवश्यकता से देशवासियों को अवगत करवाया। यह एक ऐसा काम है जो राजनीति से नितान्त ऊपर है। साम्प्रदायिकता एक ऐसी चुनौती है जिसका स्थायी हल आवश्यक है। साम्प्रदायिकता को समाप्त करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जाते हैं:

1. शिक्षा द्वारा (By Education): साम्प्रदायिकता को दूर करने का सबसे अच्छा साधन शिक्षा का प्रसार है। जैसे-जैसे शिक्षित व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाएगी धर्म का प्रभाव भी कम हो जाएगा और साम्प्रदायिकता की बीमारी भी दूर हो जाएगी। सही शिक्षा से राष्ट्रीय भावना पैदा होती है।
2. प्रचार के द्वारा (By Propaganda): समाचार-पत्रों, रेडियो तथा टेलीविजन के द्वारा साम्प्रदायिकता के विरुद्ध प्रचार करके भ्रातृत्व की भावना उत्पन्न की जा सकती है।
3. नागरिक अपने दायित्व पूरे करें (Citizens should fulfil their Responsibility): दंगों का जारी रहना यह भी दर्शाता है हमारा समाज सब कामों के लिए प्रशासन तथा राजनीतिक नेतृत्व पर अधिक भरोसा करके सामाजिक नेतृत्व के महत्व को भूल गया है। नागरिकों को अपने दायित्व के प्रति सचेत होना चाहिए और शान्ति स्थापना में प्रशासन की मदद करनी चाहिए। प्रशासन दंगों को दबा सकता है, नागरिकों की मदद के लिए गश्त की व्यवस्था भी कर सकता है, लेकिन सन्देह का वातावरण खत्म करना नागरिकों का दायित्व है।

4. साम्प्रदायिक दलों का अनंत करके (By abolishing Communal Parties): सरकार को सभी ऐसे दलों को समाप्त कर देना चाहिए, जो साम्प्रदायिकता पर आधारित हों। भूतपूर्व प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई के मतानुसार चुनाव आयोग को साम्प्रदायिक पार्टियों को मान्यता नहीं देनी चाहिए। श्री मोरारजी देसाई के विचारनुसार किसी भी राष्ट्रीय दल को साम्प्रदायिक पार्टियों से गठजोड़ नहीं करना चाहिए और नही साम्प्रदायिक पार्टियों को चुनाव लड़ने की आज्ञा दी जानी चाहिए। सभी साम्प्रदायिक संगठनों पर प्रतिबन्ध लगाने चाहिए। 10 दिसम्बर, 1992 को केन्द्र सरकार ने पांच संगठनों—राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद्, बजरंग दल, जमायते इस्लामी हिन्द तथा इस्लामिक सेवक संघ को साम्प्रदायिक करार देकर गतिविधि निवारक अधिनियम 1967 के तहत उन पर प्रतिबन्ध लगाया। न्यायाधीश पी० के० बाहरी न्यायाधीकरण ने 4 जून, 1993 को विश्व हिन्दू परिषद् पर लगे प्रतिबन्ध को वैध ठहराया लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और बजरंग दल पर लगे प्रतिबन्ध को रद्द कर दिया।
5. आपसी विवाह के द्वारा (By Inter-Religious Marriages): अन्तर्जातीय विवाह करके साम्प्रदायिकता को समाप्त किया जा सकता है।
6. धर्म और राजनीति को अलग करके: साम्प्रदायिकता को रोकने का एक महत्वपूर्ण उपाय यह है कि राजनीति को धर्म से अलग रखा जाए। 25 फरवरी, 1987 को संसद् में राष्ट्रपति के अभिभाषण पर धन्यवाद प्रस्ताव पर चर्चा के दौरान सदस्यों ने धर्म को राजनीति से अलग रखने पर जोर दिया। प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने कई बार अपने भाषणों में धर्म को राजनीति से अलग करने पर जोर दिया था।
7. सुरक्षा बलों में सभी धर्मों का प्रतिनिधित्व: साम्प्रदायिक दंगों को रोकने में सुरक्षा का विशेष उत्तरदायित्व है। अतः साम्प्रदायिक दंगों को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि सुरक्षा बलों में सभी धर्मों व जातियों को जहां तक हो सके, समान प्रतिनिधित्व देना चाहिए।
8. सामाजिक तथा आर्थिक विकास: साम्प्रदायिक दंगों को कम करने का एक महत्वपूर्ण उपाय पिछड़े लोगों का सामाजिक तथा आर्थिक विकास करना है। अधिकांश साम्प्रदायिक दंगों में गरीब और पिछड़े लोग ही सुम्मिलित होते हैं। अतः साम्प्रदायिक दंगों को कम करने के लिए लोगों का तेजी के साथ सामाजिक तथा आर्थिक विकास करना अति आवश्यक है।
9. साम्प्रदायिकता विरोधी सम्मेलनों का आयोजन (Anti-Communalism Conventions): साम्प्रदायिकता को समाप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन साम्प्रदायिकता विरोधी सम्मेलनों का आयोजन करना है। अब तक इस प्रकार के कई सम्मेलन किए जा चुके हैं – नई दिल्ली (1956), नई दिल्ली (1968), इलाहाबाद (1970), भोपाल (1972), नई दिल्ली (1972) आदि। सम्मेलनों में हर बार कुछ प्रस्ताव पास किए गए हैं। कुछ दलों को फासिस्ट कहा गया और कुछ पर साम्प्रदायिक घृणा फैलाने, दंगे, हिंसा और तोड़-फोड़ के आरोप लगाए हैं। इस प्रस्तावों में मांग की गई है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, शिव सेना, आनन्द मार्ग और जमायते-इस्लामी आदि संगठनों को गैर-कानूनी घोषित किया जाना चाहिए। 19 दिसम्बर, 1992 को देश में 11 राजनीतिक दलों और 30 लोक संगठनों ने देश भर में साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संयुक्त अभियान चलाने के लिए एक राष्ट्रीय समिति का गठन किया।
10. दलगत राजनीति: न्यायमूर्ति विद्यातिल ने सिफारिश की थी कि “राजनीतिक दल अपने दलगत हितों को बढ़ाने के लिए पुलिस का इस्तेमाल न करें और पुलिस प्रशासन में हस्तक्षेप करने से बाज आएं।”
11. साम्प्रदायिक दंगों के लिए सरकार के विरुद्ध कार्यवाही: 1968 में राष्ट्रीय एकता परिषद् की श्रीनगर बैठक में तत्कालीन उप-प्रधानमंत्री श्री देसाई ने कहा था कि जो फैसला किया गया, “उसमें यह भी नीहित है कि जो सरकार दंगों को रोकने में विफल हो, वह हर्जाना दे और जिम्मेदार मन्त्री अपने पद से इस्तीफा दे दें।”

हमें तो प्रसंग में समूची सरकार के पद त्याग पर विचार करना चाहिए।” परन्तु यह फैसला और इसमें निहित सिद्धान्त आज तक ‘किताबी ज्ञान’ बना रहा, जिसको व्यवहार में लाने का साहस किसी राजनीतिज्ञ ने नहीं किया।

12. शान्ति रक्षा बल: 12 सितम्बर, 1980 को केन्द्रीय सरकार ने साम्प्रदायिक दंगों से निपटने के लिए शान्ति रक्षा बल की तीन बटालियनों गठित करने की स्वीकृति दे दी। शान्ति रक्षा बल में देश के विभिन्न भागों से मुख्यरूप से अल्पसंख्यक, हरिजन तथा आदिवासी समुदायों के सदस्य लिए जाएंगे। गृह मन्त्रालय के एक प्रवक्ता के अनुसार उनका दृष्टिकोण सम्भवतः राष्ट्रीय, धर्म-निरपेक्ष तथा जाति, धर्म और क्षेत्रीय संकीर्णताओं से ऊपर होगा। सरकारी प्रवक्ता के अनुसार शान्ति रक्षा बल के जवानों का विशेषरूप से प्रशिक्षण होगा। उनको न केवल साम्प्रदायिक दंगों से निपटने के लिए तैयार किया जाएगा, बल्कि उन्हें यह भी सिखाया जाएगा कि ऐसे दंगों के दौरान निर्दोष पीड़ित व्यक्तियों की कैसे सहायता की जाए। साम्प्रदायिक दंगों से निपटने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा त्वरित कार्य बल (Rapid Action Force) की स्थापना की गई है जो तेजी से कार्यवाही करके साम्प्रदायिक दंगों से निपटता है।
13. गृह-मन्त्रालय का 10 सूत्री कार्यक्रम: जुलाई, 1981 में गृह-मन्त्रालय ने साम्प्रदायिक दंगों की रोकथाम के लिए राज्य सरकारों का एक 10 सूत्री कार्यक्रम भेजा। इनमें से एक महत्वपूर्ण सुझाव यह है कि धार्मिक जुलूसों के मार्गों का पहले से निर्धारण कर दिया जाना चाहिए। एक सुझाव यह भी है कि पुलिस दल तथा गुप्तचर विभाग में अल्पसंख्यकों को पूरा प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए जिससे कि पुलिस की निष्पक्षता में उनका विश्वास पैदा हो। साम्प्रदायिक समाचार-पत्रों पर कड़ी नज़र रखने का सुझाव देते हुए केन्द्र ने इनके विरुद्ध प्रभावी कार्यवाही करने का भी सुझाव दिया है।
14. जून, 1989 में राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के मुख्य सचिवों के सम्मेलन ने देश की साम्प्रदायिक स्थिति पर कड़ी निगरानी रखने तथा साम्प्रदायिक घटनाओं को रोकने के लिए संगठित ढंग से एक-दूसरे राज्यों में गुप्तचर सूचनाओं का आदान-प्रदान करने का सुझाव दिया। सम्मेलन में इस बात पर आम सहमति व्यक्त की गई कि राज्यों में गुप्तचर एजेंसियों की मशीनरी और गतिविधियों को तेज़ किया जाए।
15. विशेष आदलतें: साम्प्रदायिक दंगे-फसादों के दोषी व्यक्तियों को दण्ड देने में बहुत देरी हो जाती है क्योंकि मुकद्दमों का फैसला वर्षों तक नहीं होता। इसलिए साम्प्रदायिक दंगों से सम्बन्धित मुद्दमों की सुनवाई और दोषी व्यक्तियों को कड़ी सज़ा देने के लिए विशेष अदालतों की स्थापना की जानी चाहिए।
16. घृणा फैलाने वाले प्रचार पर रोक: अप्रैल, 1991 में चुनाव आयोग ने अचार संहिता लागू की, जिसके अनतर्गत चुनाव में मत प्राप्त करने के लिए जाति या साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने वाले आह्वानों पर प्रतिबन्ध लगाया गया। चुनाव प्रचार के लिए मन्दिर, मस्जिद या दूसरे धार्मिक स्थलों के मंच के रूप में प्रयुक्त करने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया है।
17. “राजनीतिक दलों और 30 लोक संगठनों ने देश भर में साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संयुक्त अभियान चलाने के लिए 19 दिसम्बर, 1992 को एक राष्ट्रीय समिति की स्थापना की।”
18. दिसम्बर, 1992 में संसद के दोनों सदनों ने प्रस्ताव पारित कर अयोध्या में बाबरी मस्जिद गिराए जाने की घटना की आलोचना की और देश की जनता से अपील की कि वह साम्प्रदायिक सद्भाव बनाए रखें।

2.4.8 निष्कर्ष:

साम्प्रदायिकता को समाप्त करना राष्ट्र की एकता के लिए अति आवश्यक है। सरकार को उन अधिकारियों को कड़ा दण्ड देना चाहिए जो धर्म के नाम पर पक्षपात करते हैं। सभी सरकारी नियुक्तियां योग्यता के आधार पर

की जानी चाहिए। हमारी सरकार को सरकारी नौकरियों के फार्म से धर्म का कालम हटाना चाहिए। यह बात बड़ी अजीब लगती है कि एक तरफ तो सरकार धर्म-निरपेक्षता का दावा करती है और दूसरी तरफ सरकारी नौकरियों के उम्मीदवारों से पूछा जाता है कि आपका धर्म क्या है। जो लोग साम्प्रदायिक भावनाओं को बढ़ावा देते हैं, उनको भी सख्त सजाएं देनी चाहिए। परन्तु यह तभी हो सकता है जब सत्तारूढ़ दल स्वयं धर्म से बिल्कुल छुटकारा पा जाएं। अफसोस की बात है कांग्रेस ने एक तरफ तो साम्प्रदायिक दलों जैसे कि मुस्लिम लीग और शिव सेना की समय-समय पर आलोचना की और दूसरी तरफ अपने हित के लिए चुनावों में इनके साथ समझौता भी किया। मुसलमानों को भी यह समझ लेना चाहिए कि उनका भवष्य हिन्दुओं के साथ है, न कि उनसे अलग रहने पर। Richard A. Schermerhorn ने ठीक ही कहा है, “The Muslims must realize that their future is round up with the future of secularism and they should support and strengthen the Hindus and others, who have launched a crusade against communalism. Without the minorities support this crusade may not succeed.”

19 महीने के आन्तरिक आपात्काल में मुस्लिम और हिन्दुओं दोनों ने इकट्ठे यातानएं सही। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जमायते-इस्लामी के सदस्य इकट्ठे जेलों में रहे, जेल में दोनों ने विचार-विमर्श खुलेरूप में किया और एक-दूसरे के विरुद्ध उनके दलों में घृणा की जो भावना थी, उसका अन्त किया। जब आपात्काल को समाप्त किया गया और लोकसभा तथा 10 राज्यों की विधानसभाओं और 2 संघीय क्षेत्रों के लिए चुनाव करवाए गए तब हिन्दुओं और मुसलमानों ने सम्प्रदाय की भावना से ऊपर उठकर मतदान किया। मुसलमानों के नेता जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल बुखारी (Abdul Bukhari) ने जनता पार्टी के समर्थन में जनता पार्टी के प्लेटफार्म से ही जनता पार्टी के नेताओं के साथ भाषण दिए। मार्च, 1977 से जुलाई, 1978 तक के काल में बिल्कुल दंगे-फसाद नहीं हुए।

प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने अगस्त तथा सितम्बर, 1980 के दंगों के दौरान कई बार कहा कि हम साम्प्रदायिक एकता और शान्ति बनाए रखने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने जातिवाद, साम्प्रदायिकता तथा अन्धविश्वास को आधुनिक समाज में असंगत बताते हुए लोगों के मन से इन्हें दूर करने की जरूरत पर बल दिया था।

जून, 1986 में प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने वाराणसी में गंगा की सफाई के दूसरे चरण का उद्घाटन करते हुए साम्प्रदायिक सद्भाव और राष्ट्रीय एकता कायम करने के लिए आहान किया। 28 जून, 1993 को अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यसमीति ने साम्प्रदायिक ताकतों को चुनाव से अलग रखने का प्रस्ताव पास किया।

आज आवश्यकता इस बात की है कि सभी राजनीतिक दल मिलकर साम्प्रदायिक दंगों को सदैव के लिए समाप्त करने के उपाय ढूंढें और उन पर अमल करें। राष्ट्रहित की यही मांग है।

2.4.9 मुख्य शब्दावली

- धर्म शब्दावली
- मौलिकतावाद
- औपनिवेशिक
- राष्ट्रवाद
- सम्प्रदाय

2.4.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. साम्प्रदायिकता से आप क्या समझते हैं? साम्प्रदायिक राजनीति को बढ़ावा देने वाले तथ्यों का उल्लेख कीजिए।
2. भारतीय संदर्भ में साम्प्रदायिकता के विकास का उल्लेख कीजिए।
3. धर्म और राजनीति के मध्य संबंधों का वर्णन कीजिए।
4. साम्प्रदायिकता को रोकने/समाधान करने के उपायों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

2.4.11 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Corner Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B.Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, Federalism in India: A Study of Union-State Relations, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J.Harriss, Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, State Politics in India, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, India: Government and Politics in a Developing Nations, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). Democracy in India, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) Indian Government and Politics, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, Politics in India, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, Party System and Election Studies, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, Government and Politics in India, Delhi, BI Publications, 1974.
- A.C. Noorani, Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, An Introduction to the constitution of India, New Delhi, 1998.
- A. Ray, Tension Areas in India's Federal System, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). Coalition Politics in India, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

2.5 भारतीय राजनीति में भाषा

(Language in Indian Politics)

2.5.1 परिचय:

प्रो० मॉसिक जोन्स लिखते हैं, “क्षेत्रवाद और भाषा के सवाल भारतीय राजनीति के इतने ज्वलन्त प्रश्न रहे हैं और भारत के हाल के राजनीतिक इतिहास की घटनाओं के साथ इनका इतना गहरा सम्बन्ध रहा है कि अवसर ऐसा लगता है कि यह राष्ट्रीय एकता की सम्पूर्ण समस्या है।”

भारत एक बहुभाषी देश है। सन् 1902 की एक गणना के अनुसार भारत में 179 भाषाएं एवं 544 स्थानीय भाषाएं (Dialects) थीं और सन् 1951 की जनगणना के अनुसार भारत में 771 भाषाएं एवं स्थानीय भाषाएं विद्यमान थीं। 1961 और 1971 की जनगणनाओं में मातृभाषाओं के रूप में 152 भाषाओं की गणना की थी। यदि इन स्थानीय और क्षेत्र विशेष की भाषाओं को छोड़ भी दें तो भारत में प्रमुखरूप से प्रचलित भाषाओं की संख्या 18 है, जिनके अन्तर्गत देश की लगभग 90 प्रतिशत जनता आ जाती है। प्रारम्भ में प्रमुखरूप से प्रचलित भाषाओं की संख्या 18 है, जिनके नाम हैं—असमी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, तमिल, तेलुगु, संस्कृत एवं उर्दू। बाद में सिन्धी भाषा को भी संविधान में सम्मिलित कर लिया गया। अतः संख्या 15 हो गयी। अगस्त 1992 में हुए 71वें संविधान संशोधन के अनुसार कोंकणी, मणिपुरी व नेपाली को भी सम्मिलित करलिया गया, अब यह संख्या 18 हो गयी है। भौगोलिक दृष्टि से भारत में पूर्वी तट की चार भाषाएं क्रमशः तमिल, तेलुगु, उड़िया और बंगला पश्चिमी तट की चार भाषाएं क्रमशः कन्नड़, मलयालम, मराठी एवं गुजराती, टेट उत्तर में कश्मीरी एवं उत्तर-पश्चिम में पंजाबी और मध्य क्षेत्र की भाषा हिन्दी है। हिन्दी से सम्बन्धित राज्य है हरियाणा, राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश एवं केन्द्रशासित दिल्ली, चण्डीगढ़ आदि। उर्दू, संस्कृत तथा सिन्धी भाषा से सम्बन्धित कोई विशेष भाग नहीं है, परन्तु थोड़ी-बहुत मात्रा में इनका सर्वत्र प्रयोग होता है।

2.5.2 उद्देश्य

- भारतीय राजनीति में भाषा के महत्व को जानना।
- भाषा से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों को समझना।
- भाषा का राजनीति पर प्रभावों के बारे में जानना।

2.5.3 भारत की राजनैतिक व्यवस्था में भाषा की समस्या

(Problem of Language in Indian Political System)

भाषा किसी भी राज्य की राष्ट्रीय एकता के लिए एक बहुत ही महत्वपूर्ण तत्त्व है। भारत एक बहुलवादी राज्य है जिसमें अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। वर्तमान समय में भारत 179 भाषाएँ तथा 544 बोलियाँ हैं। इनमें से 18 भाषाओं को संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त है। भाषा की एकता से लोगों में विचारों की एकता पैदा होती है जो राष्ट्रीय एकता में सहायक होती है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि किसी भी राष्ट्र भाषा का होना बहुत आवश्यक है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व राष्ट्रीय भाषा के विषय में विचार — राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न पर विचार राष्ट्रीय आन्दोलन के समय ही किया जाने लगा था। उस समय में प्रचलित अंग्रेजी भाषा के विषय में राष्ट्रवादियों का विचार था कि इस भाषा से समाज दो वर्गों—शासक और शोषित—में बँट जाता है। महात्मा गाँधी ने 1981 में राष्ट्रीय भाषा और प्रान्तों में प्रान्तीय भाषाओं को नहीं अपनाया जाएगा तब तक स्वराज्य के बारे में बातचीत करना व्यर्थ है। 1920 में पं० जवाहर लाल नेहरू ने भी एक प्रस्ताव द्वारा इस बात का समर्थन किया कि प्रान्तों का गठन भाषाओं के आधार पर होना चाहिए। 1923 में कांग्रेस ने अपने वार्षिक अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया कि, जहाँ तक सम्भव

हो, अधिवेशन की कार्यवाही हिन्दुस्तानी में की जाए। प्रान्तों की कांग्रेस समितियाँ पहले से ही अपने प्रान्त की भाषाओं में कार्य कर रही थी। 1928 की नेहरू रिपोर्ट में भी इसी बात का समर्थन किया गया।

2.5.4 भाषा से सम्बन्धित संवैधानिक प्रावधान (Constitutional Provisions Regarding Language)

भारत के संविधान के भाग 17 में अनुच्छेद 343 से लेकर 351 तक भाषा सम्बन्धी विषयों का उल्लेख किया गया है। इसका वर्णन निम्नलिखित है:

1. अनुच्छेद 343 के अनुसार संघ की राज्य भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग करने वाले अंकों का रूप अन्तर्राष्ट्रीय होगा।
2. संविधान के आरम्भ में 15 वर्ष की अवधि तक संघ में उन शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिसका प्रयोग पहले से हो रहा था।
3. अनुच्छेद 344 के अनुसार राष्ट्रपति इस संविधान के आरम्भ में 5 वर्ष की समाप्ति पर एक आयोग गठित करेगा जिसमें एक अध्यक्ष और आठवीं अनुसूची में विभिन्न भाषाओं का प्रतिनिधत्व करने वाले अन्य सदस्य भी शामिल होंगे। इस आयोग का कर्तव्य होगा कि सरकारी उद्देश्यों के लिए हिन्दी भाषा का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाए तथा अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर प्रतिबन्ध के लिए सुझाव दिया जाए।
4. संविधान के अनुच्छेद 345 के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि राज्य का विधानमण्डल एक या एक से अधिक भाषाओं को राज्य के सरकारी कार्यों के लिए निश्चित कर सकता है। यदि राज्य का विधानमण्डल चाहे तो वह हिन्दी भाषा को भी अपना सकता है।
5. अनुच्छेद के 346 के अनुसार राज्य और केन्द्र में आपसी व्यवहार के लिए सरकारी भाषा वह होगी जिस भाषा को केन्द्र द्वारा मान्यता दी गई है परन्तु यदि दो या दो से अधिक राज्य इस बात पर सहमत हो जाते हैं कि उनके प्रयोग की राज्य भाषा हिन्दी भाषा हो तो उस भाषा का प्रयोग किया जा सकेगा।
6. अनुच्छेद 347 के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि यदि किसी राज्य की जनसंख्या का एक बड़ा भाग यह चाहता है कि उसकी बोली को भाषा के रूप में मान्यता दी जाए, तो राष्ट्रपति से इस प्रकार की मांग करने पर वह ऐसा आदेश दे सकता है।
7. संविधान के अनुच्छेद 348 के अनुसार यह व्यवस्था की गई कि उच्चतम न्यायालय और अधीनस्थ न्यायालयों में सभी कार्यवाहियाँ अंग्रेजी भाषा में होंगी।
8. अनुच्छेद 350 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शिकायत दूर करवाने के लिए संघ या राज्य सरकार के अधिकारी को संघ में या राज्य में प्रयोग होने वाली किसी भी भाषा में प्रार्थना-पत्र देने का अधिकार होगा।
9. अनुच्छेद 350 (क) और (ख) के अनुसार अल्पसंख्यक वर्गों को अपने बच्चों को मातृ भाषा में शिक्षा दिलाने का अधिकार होगा। इसके अलावा भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के लिए एक विशेष अधिकारी राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा।
10. संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुसार संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार करे, उसका विकास करे, जिससे कि वह भारत की संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि संविधान के विभिन्न प्रावधानों द्वारा या प्रयत्न किया गया है कि देश की राज्य भाषा हिन्दी बने। इसके साथ ही आठवीं अनुसूची में लिखी गई सभी 18 भाषाओं का पर्याप्त विकास हो। इसके साथ ही अल्पसंख्यक अपनी भाषा का विकास कर सकें इसकी भी उचित व्यवस्था की गई है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से संविधान लागू होने के 15 वर्ष बाद अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राज्य भाषा बन जाता था। परन्तु भाषा की राजनीति ने यह सम्भव नहीं होने दिया।

2.5.5 अल्पसंख्यकों के लिए भाषायी संवैधानिक व्यवस्थाएँ

(Constitutional Provisions for Minorities Regarding Their Language)

भारत के संविधान निर्माता राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता के विषय में अत्यधिक चिन्ति थे। वे देश के बहुलवादी स्वरूप से अच्छी तरह परिचित थे। वे जानते थे कि भारत में भाषा, धर्म, सम्प्रदाय आदि की विभिन्नताएँ हैं। इसी के साथ ही भारत में बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक समुदाय (Community) भी है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर कि विभिन्नताओं में एकता स्थापित हो तथा बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों के हितों की अवहेलना न कर सकें, संविधान में अल्पसंख्यकों की संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी सुरक्षा की व्यवस्था की। संविधान द्वारा अल्पसंख्यकों के लिए भाषा सम्बन्धी निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई हैं:

संविधान के भाग तीन में मूलाधिकारों के रूप में अल्पसंख्यक वर्गों को संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार के रूप में निम्नलिखित सुरक्षाएँ प्रदान की गई हैं।

1. अनुच्छेद 29(1) के अनुसार, “भारत के राज्य-क्षेत्र या उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी विभाग की, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार होगा।”

अनुच्छेद 29(2) के अनुसार, “राज्य द्वारा पोषित या राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूल वंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी एक के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा।”

2. अनुच्छेद 30(1) के अनुसार, “धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनीरुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा।

3. अनुच्छेद 30(2) के अनुसार, “शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी शिक्षा संस्था के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है।”

संविधान के भाग 17 के अध्याय 4 के अनुच्छेद 350(क) तथा 350(ख) द्वारा तो अल्पसंख्यकों को विशेष शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। ये सुविधाएँ निम्नलिखित हैं:

1. अनुच्छेद 350(क) के अनुसार प्रत्येक राज्य तथा उस राज्य का प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों को प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर मातृ-भाषा में शिक्षा उपलब्ध करने का प्रयास करेगा। इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए राष्ट्रपति आवश्यकतानुसार राज्य को निर्देश दे सकता है।

2. अनुच्छेद 350(ख) के अनुसार व्यवस्था की गई है कि भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के लिए एक विशेष पदाधिकारी राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा। उसका कर्तव्य होगा कि वह भाषायी अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित सभी विषयों की रिपोर्ट तैयार करके राष्ट्रपति के सम्मुख पेश करेगा। राष्ट्रपति उस रिपोर्ट को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवायेगा तथा वह रिपोर्ट सम्बन्धित राज्यों को भी भेजी जाएगी।

इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि संविधान द्वारा भाषायी अल्पसंख्यकों को संविधान द्वारा पर्याप्त सुरक्षाएँ प्रदान की गई हैं। इन सुरक्षाओं का उद्देश्य था कि अल्पसंख्यक भी अन्य वर्गों की तरह राष्ट्र की धरा में रहते हुए राष्ट्र की एकता को दृढ़ करेंगे। परन्तु उन्होंने भाषा के आधार पर अपनी भावनात्मक एकता तो मजबूत की, परन्तु राष्ट्रीय एकता की अवहेलना कर दी। इससे भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है। भाषा

की भावनात्मक एकता में इतना उग्ररूप धारण किया है कि अन्य भाषाओं की अवहेलना ही नहीं, बल्कि उनका अपमान किया जाने लगा। यह प्रवृत्ति दोषपूर्ण है। राष्ट्र की सभी भाषायें हमारी हैं और उनका उचित आदर होना आवश्यक है। इस व्यवस्था का उत्तरदायित्व राजनेताओं पर है।

2.5.6 भाषा का भारतीय राजनीति पर प्रभाव (Effect of Language on the Politics of India)

भाषा ने भारतीय राजनीति को निम्नलिखित ढंगों से प्रभावित किया है:

1. राष्ट्रीय एकता को खतरा (Danger to National Integration): राष्ट्रीय एकता के लिए एक सामान्य भाषा का होना अति आवश्यक है। संविधान निर्माताओं ने यही बात सोच कर हिन्दी को राष्ट्र भाषा घोषित किया था। परन्तु भाषा के विवाद ने राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को करारी चोट पहुंचाई है। दक्षिण के राज्यों और उत्तर के राज्यों में मुख्य विवाद का कारण भाषा है। हिन्दी राज्य हिन्दी के पक्ष में है जबकि दक्षिण के गैर हिन्दी भाषा राज्य हिन्दी विरोधी हैं।
2. भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन (State's Reorganisation on the basis of Language): संविधान के लागू होने के बाद शीघ्र ही राज्यों के भाषायी आधार पर पुनर्गठन की मांग जोर पकड़ती गई और सरकार ने भारत के राज्यों का पुनर्गठन करने के लिए 1953 के आधार पर भारत को 14 राज्यों तथा 6 संघीय क्षेत्रों में विभाजित किया। परन्तु राज्य के 1956 के पुनर्गठन से यह समस्या समाप्त नहीं हुई बल्कि उसके बाद भी अनेक राज्यों का पुनर्गठन किया गया और आज भारत में 28 राज्य और 7 संघीय क्षेत्र हैं। आज भी अनेक क्षेत्रों में भाषा के आधार पर अलग राज्य बनाने की मांग उठाई जाती है। उदाहरण के लिए आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना, महाराष्ट्र में विदर्भ (Vidarbhs) गुजरात में सौराष्ट्र, उत्तरप्रदेश में बुंदेलखण्ड, जम्मू-कश्मीर में लद्दाख और जम्मू अलग राज्य की मांग कर रहे हैं। इससे भारत की एकता कमजोर पड़ती है।
3. क्षेत्रवाद की भावना का विकास (Development of the feeling of Regionalism): भाषा के आधार पर ही लोगों में क्षेत्रीयवाद की भावना की विकास हुआ है और विभिन्न भाषा बोलने वाले पृथक राज्य की मांग करते हैं। परन्तु यदि सभी पृथक भाषा बोलने वालों की मांग को स्वीकार कर लिया जाए तो भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बंट जाएगा और भारत की एकता भी खतरे में पड़ सकती है।
4. सीमा विवाद (Regional Dispute): भाषा के कारण अनेक राज्यों में सीमा विवाद उत्पन्न हुए हैं और आज भी अनेक राज्यों के बीच यह विवाद चल रहे हैं। उदाहरणस्वरूप पंजाब और हरियाणा, महाराष्ट्र और कर्नाटक और केरल इत्यादि में सीमा विवाद विद्यमान हैं। पंजाब और हरियाणा के भाषायी क्षेत्रों के विवाद को हल करने के लिए कई आयोग स्थापित किए जा चुके हैं परन्तु अभी तक समस्या का समाधान नहीं हुआ है। 21 जून, 1986 को केन्द्र ने सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश डी. ए. देसाई अध्यक्षता में न्यायिक समिति की नियुक्ति की ताकि वह पता लगा सके कि पंजाब के कौन से हिन्दी भाषी क्षेत्र हरियाणा को चण्डीगढ़ के बदले दिए जाने चाहिए।
5. संकीर्ण देशभक्ति की भावना (Feeling of Linguistic Minorities): भाषा व्यक्ति संकीर्ण देशभक्ति की भावना का विकास करती है। लोग राष्ट्र को भूल कर अपने स्वार्थ हितों के चक्कर में फंस जाते हैं। भारत में रहने वाले भिन्न-भिन्न लोग अपनी प्रान्तीय भाषाओं के प्रति अधिक वफादार है और हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। इससे ज्यादा शर्म की बात और क्या हो सकती है कि ऐसे लोग विदेशी भाषा अंग्रेजी पढ़ने के लिए हिन्दी का विरोध करते हैं।

6. भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्या (Problem of Linguistic Minorities): भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन से एक महत्वपूर्ण समस्या पैदा हो गई है और यह है भाषायी अल्पसंख्यक। चाहे राज्यों का पुनर्गठन भाषा के आधार पर किया जाता है फिर भी प्रत्येक राज्य में अन्य भाषाओं के लोग भी रहते हैं। अल्पसंख्यकों को बहुमत भाषी बाहर के लोग समझते हैं फिर भी प्रत्येक राज्य में अन्य भाषाओं के लोग भी रहते हैं। अल्पसंख्यकों को बहुत भाषी बाहर के लोग समझते हैं और उनके साथ भेद भाव किया जाता है। उदाहरण के लिए 1966 में महाराष्ट्र में शिव सेना की स्थापना की गई जिसने नारा दिया, महाराष्ट्र मराठियों के लिये और दक्षिण भारत के विरुद्ध आन्दोलन किया ताकि वे महाराष्ट्र से चले जाएं।
7. आन्दोलन, हिंसा, व्रत आदि का प्रभाव (Effects of Movements, Violence, Fasts, etc.): भाषा के विवादों ने आन्दोलनों हिंसा इत्यादि को जन्म दिया है। भाषायी समूह के लोगों ने केन्द्र से अपनी मांगे मनवाने के लिए आन्दोलनों का सहारा लिया और कई नेताओं ने मरण व्रत भी रखे। कई बार इन हिंसक हिन्दी विरोधी आन्दोलनों में हजारों लोगों की मृत्यु हुई और करोड़ों की सम्पत्ति बर्बाद हुई। तमिलनाडु में कई बार हिन्दी विरोधी आन्दोलन हुई। दिसम्बर, 1986 में गोवा में कोंकणी को राज्य की सरकारी भाषा घोषित करने के लिए आन्दोलन हुए। 71 वें संशोधन द्वारा कोंकणी को आठवीं अनुसूची में सम्मिलित कर लिया गया है।
8. सामाजिक तनाव (Social Tensions): भाषायी आन्दोलनों से सामाजिक तनाव की वृद्धि है। गोवा में कोंकणी और मराठी भाषा को लेकर दिसम्बर, 1986 में सामाजिक तनाव उत्पन्न हो गया। उत्तर भारत और दक्षिण भारत में भाषा को लेकर कई बार सामाजिक तनाव उत्पन्न हो जाता है।

2.5.7 निष्कर्ष:

उपरलिखित वर्णन ने स्पष्ट है कि भाषा ने भारतीय राजनीति को बहुत ही प्रभावित किया है और यह भारतीय एकता के रास्ते में एक बड़ी बाधा है। भाषा की समस्या आम चुनावों के दिनों में और भी उग्र हो जाती है, क्योंकि राजनीतिक दल विभिन्न भाषायी लोगों की भावनाओं को उत्तेजित करके अपना स्वार्थ पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। भारत से अंग्रेज गए तो अंग्रेजी को भी एक दिन जाना होगा। यदि दक्षिण भारत के पांच मुख्यमंत्री हिन्दी को धीरे-धीरे लाने के लिए कुछ रचनात्मक सुझाव देंते तो वह तर्कसंगत होता, “परन्तु जिस तरह से उन्होंने हिन्दी का विरोध किया है और केन्द्र पर दोषारोपण किया है, वह नितान्त बेतुका और राजनीतिक स्वार्थ से प्रेरित है। इन लोगों ने अपनी राजनीतिक गद्दी को बरकरार रखने के लिए हिन्दी को एक शस्त्र के रूप में अपना रखा है और अपनी भोली-भाली जनता को हिन्दी के द्वारा उत्तर के साम्राज्यवाद का हौवा दिखा कर और उससे उसकी रक्षा करने वाले मसीहा का बाना पहन कर हमेशा बहकाने की चेष्टा की है। तमिलनाडु का तमिल के लिए आग्रह तो समझ आता है, पर अंग्रेजी के लिए आग्रह की क्या तुक है? हिन्दी के विकास में जितना योग हिन्दी भाषियों का है, उससे कहीं अधिक गैर हिन्दी भाषियों का है। वास्तव में तमिलनाडु के हिन्दी विरोधी नेता भी वास्तविकता से बेखबर नहीं हैं। इसीलिए वे घर के बाहर मंच पर आकर हिन्दी का विरोध करते हैं। किन्तु घर के अन्दर अपने बच्चों को हिन्दी पढ़ाते हैं। इसलिए हिन्दी से वंचित रखकर अपने बच्चों का भविष्य वे नहीं बिगाड़ना चाहते, किन्तु जनता को हिन्दी के विरोध के लिए प्रलोभन दे कर केन्द्र की कमजोरी से राजनीतिक लाभ प्राप्त करने में भी वे पीछे नहीं रहना चाहते। आवश्यकता इस बात की है कि दुराग्रही हिन्दी-हन्ताओं को इसके विरुद्ध प्रचार करने का कोई अवसर न दिया जाए।

2.5.8 मुख्य शब्दावली

- बहुलवादी
- अखण्डता
- अल्पसंख्यक

- क्षेत्रीयवाद
- संस्कृति

2.5.9 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में भाषा की भूमिका का उल्लेख कीजिए।
2. अल्पसंख्यकों के लिए भाषायी संवैधानिक व्यवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
3. भाषा का भारतीय राजनीति पर प्रभावों का वर्णन कीजिए।

2.5.10 संदर्भ सूची

- G. Austin, *The Indian Constitution: Corner Stone of Nation*, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, *Working a Democratic Constitution: The Indian Experience*, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, *An Introduction to the Constitution of India*, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B. Paarekh (ed). *Crisis and Change in contemporary India*, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, *The Indian State: Fifty years*. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, *Politics of India Since Independence* Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, *Language, Region and Politics in North India* London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, *Federalism in India: A Study of Union-State Relations*, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J. Harriss, *Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy*, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, *State Politics in India*, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, *India: Government and Politics in a Developing Nations*, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). *Democracy in India*, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) *Indian Government and Politics*, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, *Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability*, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, *Politics in India*, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, *Party System and Election Studies*, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, *Government and Politics in India*, Delhi, BI Publications, 1974.
- A.C. Noorani, *Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States*, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, *An Introduction to the constitution of India*, New Delhi, 1998.
- A. Ray, *Tension Areas in India's Federal System*, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). *Coalition Politics in India*, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

2.6 क्षेत्रीयतावाद

(Regionalism)

2.6.1 परिचय

क्षेत्रीयवाद ने भारतीय राजनैतिक व्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित किया है। वर्तमान पंजाब की समस्या क्षेत्रीयवाद की एक बहुत ही महत्वपूर्ण समस्या है जो राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा बन चुकी है। डॉ० इकबाल नारायण का कथन है कि "भारतीय राजनीति का एक प्रमुख निर्धारक तत्त्व क्षेत्रीयवाद है जिसके कारण लोग भारतीय संघ की तुलना में उस क्षेत्र या राज्य विशेष को महत्व देते हैं जिसमें वे रहते हैं।"

क्षेत्रीयवाद की परिभाषा देना कठिन है। क्षेत्रीयवाद वह संकीर्ण भावना है जिसमें किसी क्षेत्र अथवा राज्य के लोग आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक या अन्य कारणों से, राष्ट्र की तुलना में अपने छोटे क्षेत्र से विशेष लगाव या भक्ति रखते हैं अथवा पृथक् अस्तित्व की माँग करते हैं। दूसरे शब्दों में, क्षेत्रीयतावाद राष्ट्रीय भावना का उल्टा है, जिसका उद्देश्य संकीर्ण क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति होता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति से लेकर आज तक यह समस्या भारतीय राजनीति को प्रभावित करती रही है। इस भावना के कारण नागरिक अपने को भारतीय न कहकर, बंगाली, मद्रासी, पंजाबी और बिहारी आदि कहते हैं। इस भावना से पृथक्वादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है जैसे कि पंजाब में खालिस्तान की माँग की जा रही है। क्षेत्रीयता की भावना से राष्ट्रीय एकता के विकास में बाधा पहुँची है।

2.6.2 उद्देश्य

- भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद का विश्लेषणपरक अध्ययन करना।
- भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद का भौगोलिक पक्ष को समझना।
- भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के मुख्य कारकों को जानना।

2.6.3 भारत में क्षेत्रीयतावाद के जन्म के कारण

(Causes for the Rise of Regionalism in India)

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत में क्षेत्रीयता का उदय क्यों हुआ? इस सम्बन्ध में ध्यान रखने वाली बात यह है कि भारत जैसे विशाल, बहुभाषा-भाषी एवं बहु-संस्कृतियों वाले देश में क्षेत्रीयता का उदय कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। क्षेत्रीयतावाद के बीज विदेशी हुकूमत के समय ही बो दिए गए थे परन्तु स्वाधीन होने के बाद यह समस्या उग्ररूप में देश के सामने आई। स्वतंत्र भारत में क्षेत्रीयतावाद की अनेक विकृतियाँ फली-फूलीं जिससे राजनैतिक और सामाजिक जीवन कई बाद अशान्त हुआ। क्षेत्रीयतावाद के जन्म या विकास के कारणों का अध्ययन निम्नलिखित भागों में किया जा सकता है:

1. **आर्थिक कारण**—क्षेत्रीयता को जन्म देने वाले कारणों में सबसे पहले आर्थिक कारणों को रखा जा सकता है। स्वाधीन होने के बाद जब देश में आर्थिक विकास का कार्यक्रम आरम्भ हुआ तो उसके फलस्वरूप कुछ क्षेत्र तो बहुत अधिक विकसित हो गए जबकि कुछ अन्य क्षेत्र अत्यधिकरूप से पिछड़ गए। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से जिस क्रान्ति की अपेक्षा की गई थी, वह नहीं हुई। राजनैतिक सत्ता का दुरुपयोग व्यक्ति विशेष द्वारा, क्षेत्र विशेष के लिए हुआ। शिक्षा, रोजगार, उद्योगों के मामलों में विकास, विकास की दृष्टि से न होकर राजनैतिक दृष्टि से हुआ। इससे क्षेत्रीय असन्तुलन पैदा हुआ। उदाहरण के लिए, 1966 से पहले हरियाणा के क्षेत्रों, जैसे हिसार, गुड़गाँव, महेन्द्रगढ़ आदि का विकास न हो सका। आन्ध्र प्रदेश में सत्ता प्रमुख रूप से आन्ध्र प्रदेश के नेताओं के पास रही जिस कारण तेलंगाना आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गया। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में पूर्वी उत्तर प्रदेश, राजस्थान में पूर्वी राजस्थान, महाराष्ट्र में विदर्भ का क्षेत्र

विकसित न हो सका। हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय जो पहले केन्द्र-शासित प्रदेश थे, उनकी राज्य की माँग आर्थिक कारणों से थी। स्पष्ट है कि आर्थिक विकास की अवहेलना क्षेत्रीयता की वृद्धि में महत्वपूर्ण तत्त्व रही है।

2. **भाषा** – भारत में क्षेत्रीयता का सम्बन्ध भाषा के साथ अनिवार्यरूप से है। इसी भाषा को आधार मानकर अनेक क्षेत्रों के लोगों ने अपने लिए पूर्ण राज्यत्व की माँग की और जब यह माँग स्वीकार नहीं हुई तो आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। 1955 में तेलगू भाषा के आधार पर आन्ध्र प्रदेश के लिए आन्दोलन चलाया गया। राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिश पर जिन 14 राज्यों का गठन किया गया, उसका आधार भी भाषा ही था। इसी प्रकार महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब और हरियाणा की स्थापना में भाषावाद ही आधार था।
3. **सांस्कृतिक कारण** – भाषा के साथ संस्कृति अनिवार्यरूप से जुड़ी हुई है। तमिलनाडु के लोगों को अपनी तमिल भाषा और तमिल संस्कृति अनिवार्यरूप से जुड़ी हुई है। तमिलनाडु के लोगों को अपनी तमिल भाषा और तमिल संस्कृति पर गर्व है। वे अपनी संस्कृति को शेष भारतीय संस्कृति से श्रेष्ठ मानते हैं। इसी कारण उन्होंने अपने राज्य को भारतीय संघ से अलग करने की माँग की थी।
4. **धार्मिक कारण** – क्षेत्रीयवाद के विकास में धर्म की भी प्रधानता रही है। उदाहरण के लिए, पंजाब में खालिस्तान की माँग बहुत सीमा तक धर्म पर आधारित है।
5. **अन्तर्राज्यीय विवाद** – राज्यों के आपसी विवाद भी क्षेत्रीयता की भावना को बढ़ाने में सहायक हुए हैं। उदाहरणस्वरूप, चंडीगढ़ के विषय पर हरियाणा और पंजाब में तनावपूर्ण स्थिति पैदा हो गई है। दोनों ही राज्यों की जनता ने अपने-अपने क्षेत्रों में आन्दोलन चलाए जिससे कि वातावरण काफी अशान्त हो गया है। नर्मदा नदी के जल-प्रयोग के कारण मध्य प्रदेश, गुजरात और राजस्थान के मध्य काफी तनावपूर्ण स्थिति रही। भाखड़ा जल-विद्युत के प्रयोग के लिए पंजाब और हरियाणा तथा पंजाब और राजस्थान में संघर्ष चल रहा है। कहने का अर्थ यह है कि राज्यों के आपसी विवाद भी क्षेत्रीयता की भावना को बढ़ाते हैं।
6. **राजनैतिक कारण** – क्षेत्रीयतावाद के जन्म के कारणों में राजनीतिज्ञों का भी मुख्य हाथ रहा है। वे सोचते हैं कि यदि अलग राज्य की स्थापना कर दी जाएगी तो सत्ता उनके हाथों में आ जाएगी। इसी उद्देश्य के कारण उत्तर प्रदेश को विभाजित करने की माँग समय-समय पर उठती रहती थी। इसी प्रकार 'विशाल हरियाणा' की माँग भी उठाई गई थी।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि क्षेत्रीयतावाद को जन्म देने के अनेक कारण हैं।

2.6.4 भारत में क्षेत्रीयतावाद

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् राजनीति में जो नए प्रश्न उभरे हैं, उनमें क्षेत्रीयतावाद (Regionalism) का प्रश्न एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। क्षेत्रीयतावाद से अभिप्राय एक देश के उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, सामाजिक आदि कारणों से अपने पृथक् अस्तित्व के लिए जागृत है। भारत की राजनीति को क्षेत्रीयतावाद ने भी बहुत अधिक प्रभावित किया है और यह भारत के लिए जटिल समस्या बनी रही है और आज भी विद्यमान है। आज यदि किसी व्यक्ति से पूछा जाए कि वह कौन है तो वह भारतीय कहने के स्थान पर बंगाली, बिहारी, पंजाबी, हरियाणवी आदि कहना पसन्द करेगा। यद्यपि संविधानानुसार प्रत्येक नागरिक को भारत की ही नागरिकता दी गई है, तथापि लोगों में क्षेत्रीयता व प्रान्तीयता की भावनाएँ इतनी पाई जाती हैं कि वे अपने क्षेत्र या प्रान्त के हित के लिए राष्ट्र हित को बलिदान करने के लिए तत्पर रहते हैं। 1950 से लेकर आज तक क्षेत्रीयतावाद की समस्या भारत सरकार के घेरे हुए हैं और विभिन्न क्षेत्रों में आन्दोलन चलते हैं। इन आन्दोलनों को मुख्यतः पांच प्रकार की माँगों के आधार पर संगठित किया गया है:

- (क) भारतीय संघ से पृथक होने की माँग (Secession from the Indian Union)
- (ख) पृथक् राज्यत्व को प्राप्त करने की माँग (Demand for Separate Statehood)
- (ग) पूर्ण राज्यत्व को प्राप्त करने की माँग (Demand for full Statehood)
- (घ) अन्तर्राज्यीय विवाद (Inter-state Disputes)
- (ङ) राज्य के लोगों के हितों की रक्षा के लिए आन्दोलन (Secession from the Indian Union): कई बार क्षेत्रीय आन्दोलन संघ से अलग होने के लिए किए जाते रहे हैं।
- (क) भारतीय संघ से पृथक होने की माँग (Secession from the Indian Union): कई बार क्षेत्रीय आन्दोलन संघ से अलग होने के लिए किए जाते रहे हैं।
- (i) तमिलनाडु में आन्दोलन: संघ से अलग होने की आवाज़ सर्वप्रथम मद्रास राज्य के लोगों ने उठाई। 1960 में D.M.K तथा अन्य तमिल दलों ने इस माँग को पूरा करवाने के लिए व्यापक आन्दोलन संगठित किया। 1962 के चुनाव में D.M.K दल को मद्रास विधानसभा में पचास स्थान प्राप्त हुए, जबकि 1957 के चुनाव में इस दल को 15 स्थान प्राप्त हुए थे। D.M.K Party के नेता अन्नादुराई (Annadurai) ने संघ से अलग होने की माँग को दोहराया। स्वर्गीय प्रधानमंत्री नेहरू ने इस माँग को अनुचित बताया। मद्रास के वातावरण को देखते हुए संसद् ने 1963 में संविधान में 16वां संशोधन पास किया। इस संशोधन के अनुसार संसद को अधिकार दिया गया कि वह भारत की प्रभुसत्ता को ललकारने वाले व्यक्ति को सज़ा देने के लिए कानून बनाए। इस संशोधन के अनुसार संसद तथा अन्य राज्य विधानसभा के चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार को संविधान के प्रति और राष्ट्र की प्रभुसत्ता व एकता को बनाए रखने के लिए साथ शपथ लेनी होगी। इस संशोधन के फलस्वरूप D.M.K ने भारत से अलग होने की माँग को छोड़ दिया। परन्तु 1971 में तमिलनाडु (मद्रास) के मुख्यमंत्री करुणानिधि (Karunanidhi) ने कहा कि तमिलनाडु का भारत से अलग होना निश्चित एवं अनिवार्य है।
- (ii) पंजाब आन्दोलन: मद्रास राज्य की तरह पंजाब में मास्टर तारा सिंह ने पंजाब को लेकर एक अलग सिख राज्य बनाने की माँग रखी। 1950 से लेकर 1966 तक अकाली दल ने पंजाबी सूबा बनाने के लिए कई आन्दोलन चलाए। नवम्बर, 1966 को पंजाब का पुनर्गठन करके पंजाब और हरियाणा दो राज्यों की स्थापना की गई। 1971 में डॉ. जगजीत सिंह ने खालिस्तान की माँग को दोहराया जिसकी पंजाब के नेताओं ने कड़ी आलोचना की। 1973 में पास किए गए आनन्दपुर प्रस्ताव के आधार पर आकाली दल ने भारत के भीतर ऐसे सिख राज्य की स्थापना की माँग की जिसमें चार विषयों—प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, मुद्रा और यातायात व संचार साधनों को छोड़कर अन्य सभी विषय राज्य सरकार को सौंप देने चाहिए। अपनी इस माँग को पूरा करवाने के लिए अकाली दल के एक धड़े ने जत्थेदार जगदेव सिंह के नेतृत्व में आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन के अतिरिक्त 8 अगस्त, 1982 को एक अन्य आन्दोलन अमृतसर से अकाली दल ने आरम्भ किया। इस आन्दोलन में दमदमी टकसाल के मुखिया संत जरनैल सिंह भिंडरावाले और उनके समर्थक भी सम्मिलित थे। जून, 1984 में सरकार को विवश होकर आतंकवादियों को पकड़ने के लिए स्वर्ण मन्दिर परिसर में तथा अन्य स्थानों पर सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। जुलाई 1985 में शिरोमणि अकाली दल के प्रधान संत हरचंद सिंह लौंगोवाल और प्रधानमंत्री राजीव गांधी में एक समझौता हुआ जिसको पंजाब समझौता कहा जाता है।

- (iii) मिज़ो आन्दोलन: असम के मिज़ो हिल (Mizo Hill) ज़िले के लोगों ने भारत से अलग होने की माँग की और इस माँग को पूरा करवाने के लिए उन्होंने Mizo National Fron की स्थापना की। चीन के आक्रमण के समय M.N.F को अवैध घोषित कर दिया गया और मिज़ो हिल (Mizo Hill) को संघीय क्षेत्रीय (Union-Territory) बना दिया गया। इस संघीय क्षेत्रीय को मिज़ोरम (Mizoram) का नाम दिया गया और इसका उद्घाटन प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी ने 21 जनवरी, 1972 को किया। मिज़ो नैशनल फ्रन्ट ने लालडेंगा के नेतृत्व में स्वतन्त्र मिज़ोरम के लिए अपनी आतंकवादी गतिविधियाँ जारी रखीं। 1972 में लालडेंगा इंग्लैण्ड भाग गए और वहाँ से मिज़ो नैशनल फ्रन्ट को निर्देश देते रहे। 1976 और 1980 में आरम्भ हुई और 25 जून, 1986 को केन्द्रीय सरकार और मिज़ो फ्रन्ट में समझौता हुआ और लालडेंगा को मुख्यमंत्री बनाया गया और 1987 में मिज़ोरम को पूर्ण राज्य बनाया गया।
- (iv) नागालैण्ड आन्दोलन: मिज़ो लोगों की तरह असम के नागा पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले लोगों ने स्वतंत्र नागरा राज्य की माँग की। उन्होंने नागा राज्य की माँग को मनवाने के लिए 'नागा नैशनल कौंसिल' (Naga National Council) की स्थापना की। नागों ने अपनी माँगों को पूरा करवाने के लिए हिंसक तथा अराजकता की कार्यवाही की, जिससे सेना को बुलाना पड़ा। 1962 में 13वें संशोधन द्वारा नागालैंड को भारतीय संघ का 16वां राज्य बनाया गया। इसके बाद भी नागालैंड में कई विद्रोही नागाओं ने अपना आन्दोलन जारी रखा।
- (v) आज़ाद कश्मीर की माँग: जम्मू-कश्मीर में अलगाववाद की जड़ें बड़ी गहरी हैं। 1947 में शेख अब्दुल्ला जम्मू-कश्मीर के शासन बने और उन्होंने 1951 से स्वतंत्र कश्मीर का सपना देखना शुरू कर दिया। इसीलिए अगस्त, 1953 में शेख अब्दुल्ला को बंदी बनाया गया। कश्मीर में अलगाववाद का एक महत्वपूर्ण कारण भारतीय संविधान का अनुच्छेद 370 है जिसने कश्मीर को विशेष दर्जा दे रखा है। 1987-88 से अलगाववादी गतिविधियाँ तेज हो गईं। इन अलगाववादियों को पाकिस्तान का पूर्ण समर्थन प्राप्त है जिस कारण ये कश्मीर के विभिन्न स्थानों पर आतंकवादी गतिविधियाँ कर रहे हैं। उन्हें पाकिस्तान द्वारा प्रशिक्षण, सहायता और प्रोत्साहन मिल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय विरोधी तत्त्व विदेशी पर्यटकों का अपहरण करके उनकी हत्या कर देते हैं। उन अलगाववादियों से निपटने के लिए प्रशासन बड़े पैमाने पर कार्यवाही कर रहा है। उनकी मुख्य माँग कश्मीरियों को आत्मनिर्णय का अधिकार देना और आज़ाद कश्मीर की कहै। इस माँग की पूर्ति के लिए ये अलगाववादी तत्त्व पाकिस्तान की उकसाहट के कारण खूनी संघर्ष का रास्ता अपनाए हुए हैं।
- (ख) पृथक् राज्यत्व को प्राप्त करने की माँग (Demand for Separate Statehood): कई बार क्षेत्रीयता आन्दोलन अलग राज्य की स्थापना के लिए किया जाता रहा है। 1956 के राज्यों के पुनर्गठन से प्रत्येक राज्य सन्तुष्ट नहीं था। बम्बई राज्य के लोगों ने पहले अलग राज्य की माँग की, जिसके फलस्वरूप दो नए राज्यों महाराष्ट्र व गुजरात की स्थापना हुई। पंजाब में अकाली दल ने पंजाबी सूबा की माँग की। 1966 में अकाली दल की माँग को स्वीकार किया गया और पंजाब दो राज्यों में विभक्त कर दिया गया पंजाब व हरियाणा। पंजाब में पहाड़ी इलाके हिमाचल प्रदेश में मिला दिए गए।
- (i) गोरखालैंड आन्दोलन: 1985 ई. में पश्चिम बंगाल दार्जिलिंग पर्वतीय क्षेत्र के निवासियों ने सुभाष घीसिंग के नेतृत्व में गोरखालैंड राज्य बनाए जाने की माँग की। गोरखा नैशनल लिबरेशन फ्रंट ने गोरखा राज्य के लिए व्यापक आन्दोलन चलाया और अन्त में अगस्त, 1988 में एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत दार्जिलिंग पर्वतीय गोरखा परिषद् की माँग को स्वीकार कर लिया गया। दार्जिलिंग गोरखा परिषद् के चुनाव दिसम्बर, 1988 में हुए जिसमें गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को 28 सीटें प्राप्त हुईं।

- (ii) बोडो आन्दोलन: 1987 में असम में बसे बोडो कबीले के लोगों ने 'बोडोलैंड' की माँग को लेकर – 'आल बोडो-स्टूडेंट्स यूनियन' (All Bodo Students Union) नेतृत्व में आन्दोलन शुरू किया। आल बोडो स्टूडेंट्स यूनियन ब्रह्मपुत्र नदी के उत्तरी किनारे पर बसे बोडो कबीले के लोगों के लिए अलग राज्य की माँग कर रही है ताकि वे अपनी संस्कृति एवं भाषा की रक्षा कर सकें और अपना सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विकास कर सकें। 15 अगस्त, 1989 को अखिल बोडो छात्र संघ ने 'एक हजार घण्टे' के असम बन्द का आन्दोलन शुरू किया। इस आन्दोलन में बोडो और गैर-बोडो समुदायों में हिंसक घटनाएं हुईं। 28 अगस्त, 1989 को नई दिल्ली में त्रिपक्षीय वार्ता हुई और बोडो और बोडो आन्दोलनकारी बातचीत के लिए उचित वातावरण बनाने के उद्देश्य से अपना आन्दोलन स्थागित करने तथा हिंसक गतिविधियाँ रोकने पर सहमत हो गए। बोडोलैंड आन्दोलन, 20 फरवरी को आन्दोलन के नेताओं, केन्द्र और राज्य सरकार के बीच हुए एक समझौते के साथ ही समाप्त हो गया। समझौते के अनुसार असम राज्य में बोडो लोगों की आशाओं को पूरा करने और सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए एक 40 सदस्यी स्वायत्तशासी परिषद् बनाई जाएगी। इस परिषद् के 35 सदस्य निर्वाचित होंगे तथा 5 सदस्यों को राज्यपाल मनोनीत करेगा। 19 मई, 1993 को बोडोलैंड अन्तरिम परिषद् की स्थापना की गई। अन्तरिम परिषद् का गठन बोडो समझौते के पालन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।
- (iii) झारखण्ड आन्दोलन: झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के 21 जिलों को मिलाकर झारखण्ड राज्य की स्थापना की माँग कर रहा है। झारखण्ड मुक्ति मोर्चा ने पिछले 4-5 वर्षों में कई बार जोरो से आन्दोलन चलाए। झारखण्ड नेताओं ने 15 सितम्बर, 1992 को झारखण्ड बन्द और 18 से 30 सितम्बर तक बिहार में आर्थिक नाकेबन्दी का आह्वान किया। 15 मार्च, 1993 को झारखण्ड बन्द किया गया और 16 मार्च से आर्थिक नाकेबन्दी कार्यक्रम शुरू कर दिया गया। इस आर्थिक नाकेबन्दी को 20 अप्रैल को प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव ने समस्या के निदान हेतु द्विपक्षीय बैठक बुलाने के आश्वासन के बाद स्थगित कर दिया। वार्ता के कई दौर चले, पर झारखण्ड समस्या का कोई अल नहीं निकला। 17 मार्च, 1994 को अखिल झारखण्ड विद्यार्थी संघ व झारखण्ड पीपुल्स पार्टी के आह्वान पर 48 घंटे के बन्द के दौरान कई जगहों पर हिंसक वारदातें भी हुईं। 22 सितम्बर, 1994 को केन्द्र सरकार ने बिहार सरकार व झारखण्ड मुक्ति मोर्चे के साथ मिलकर एक समझौता किया, जिसके अन्तर्गत झारखण्ड के विकास के लिए एक स्वायत्तशासी विकास परिषद् की स्थापना की जाएगी। इस परिषद् में 100 सदस्य होंगे जिनमें से 90 सदस्य निर्वाचित और मनोनीत होंगे। परन्तु इन व्यवस्थाओं के बावजूद भी झारखण्ड आन्दोलन चलता रहा। अन्ततः केन्द्र सरकार ने झारखण्ड वालों की बात मानते हुए, नवम्बर 2000 में झारखण्ड नाम का एक राज्य बना दिया।
- (iv) उत्तरांचल राज्य की माँग: पिछले कुछ वर्षों से उत्तर प्रदेश में उत्तरांचल की माँग चल रही है। जनवरी, 1990 में भारतीय जनता पार्टी के महासचिव डॉ० मुरली मनोहर जोशी के नेतृत्व में एक उत्तरांचल राज्य संघर्ष समिति का प्रतिनिधित्व गृहमंत्री से मिला और उसने उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों को मिला कर उत्तरांचल राज्य की स्थापना की माँग की। दिसम्बर, 1993 में उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री मुलायम सिंह यादव ने भी उत्तरांचल राज्य की माँग का समर्थन किया। 1994 में उत्तराखंड आन्दोलन तीव्र गति से चला। 2 अक्टूबर, 1994 को जब उत्तराखंड के आन्दोलनकारी बसों में दिल्ली आ रहे थे तब मजफ्फरपुर नगर में पुलिस ने उन पर हर तरह के अत्याचार किए। मई, 1998 में भारतीय जनता पार्टी की सरकार ने उत्तरांचल को राज्य बनाने की घोषणा की। केन्द्र सरकार ने उत्तरांचल वासियों की माँग भी मानते हुए नवम्बर, 2000 में उत्तरांचल नामक नया राज्य बना दिया।

- (ग) पूर्ण राज्यत्व को प्राप्त करने की माँग (Demand for full Statehood): क्षेत्रीयता की समस्या का तीसरारूप पूर्ण राज्यत्व की माँग है। संविधान में 14 वां संशोधन 1962 में किया गया था, जिसके अनुसार हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, पुरा पाण्डिचेरी तथा गोवा में विधानमण्डल की स्थापना की गई। हिमाचल प्रदेश के लोग बड़ी देर से हिमाचल को पूर्ण राज्य बनाने की माँग कर रहे थे, अतः 31 जुलाई, 1970 को हिमाचल को पूर्ण राज्य घोषित कर दिया गया। 1970 में दिल्ली की मेट्रोपोलिटन परिषद् (Metropolitan Council) ने दिल्ली को पूर्ण राज्य बनाए जाने की माँग की, परन्तु केन्द्रीय सरकार ने इस माँग को दृष्टिगत रखते हुए संविधान में 69वें संशोधन अधिनियम द्वारा दिल्ली को राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र घोषित किया जिसमें एक विधानसभा की व्यवस्था की गई है। नवम्बर, 1993 में इसके चुनाव हुए और मदल लाल खुराना पहले मुख्यमंत्री बने। 1972 में मणिपुर तथा त्रिपुरा भी पूर्ण राज्य बना दिए गए। दिसम्बर, 1986 में गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा देने के लिए आन्दोलन शुरू हुआ और संसद ने मई, 1987 में गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा देने का बिल जमा किया। गोवा भारत का 25वां राज्य है। 69वें संवैधानिक संशोधन द्वारा संघीय क्षेत्र दिल्ली को राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (National Capital Territory) बनाया गया है।
- (घ) अन्तर्राज्यीय विवाद ग (Inter-state Disputes): क्षेत्रीयता की समस्या का एक अन्यरूप राज्यों के बीच पारस्परिक विवाद हैं। इस तरह का पहला विवाद मैसूर और महाराष्ट्र में हुआ। पंजाब और हरियाणा के बीच 1966 से विवाद चल रहा है। आज भी चण्डीगढ़ दोनों प्रान्तों में विवाद का मुख्य कारण बना हुआ है। असम-नागालैण्ड सीमा विवाद बहुत समय से चल रहा है और नवम्बर, 1987 में इस विवाद ने पुनः उग्ररूप धारण कर लिया और दोनों राज्यों में अनेक खूनी मुठभेड़ें हो चुकी हैं। नदियों के पानी के इस्तेमाल के लिए राज्यों में विवाद होते रहते हैं। दरिया नर्मदा (Narmada) के पानी पर मध्य-प्रदेश, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में काफी समय तक विवाद चलता रहा और इसका हल मार्च, 1975 में हुआ। महाराष्ट्र, मैसूर और आन्ध्र प्रदेश में दरिया कृष्णा (River Krishna) के पानी के लिए काफी देर तक विवाद चलता रहा। पंजाब और हरियाणा में पानी का बंटवारा विवाद का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। कोवरी जल विवाद कर्नाटक और तमिलनाडु राज्यों में तनाव का मुख्य कारण है। 29 जलाई, 1991 को केन्द्रीय श्रम मन्त्री के. राममूर्ति ने कावेरी जल विवाद के मसले पर मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे दिया। कावेरी जल विवाद का मामला अगस्त, 1991 में सर्वोच्च न्यायालय के पास ले जाया गया। 22 नवम्बर, 1991 के अपने फैसले के अनुसार उच्चतम न्यायालय ने कर्नाटक सरकार का अध्यादेश असंवैधानिक घोषित कर दिया। जुलाई, 1998 में अन्ना डी. एम. के. की नेता सुश्री जयललिता ने केन्द्र सरकार से आग्रह किया कि कावेरी जल विवाद को शीघ्रता से निपटाया जाए।
- (ङ) राज्य के लोगों के हितों की रक्षा के लिए आन्दोलन (Secession from the Indian Union): कई बार क्षेत्रीय आन्दोलन राज्य के लोगों के हितों की रक्षा के लिए किए जाते हैं। असम आन्दोलन इस तरह का ही था। असम आन्दोलन 1979 से लेकर 1985 चल चला। यह आन्दोलन असम में विदेशियों की समस्या को लेकर चलाया गया, क्योंकि असमिया मूल के लोगों में यह आशंका घर कर चुकी थी कि वे अल्पसंख्यक बन जाएंगे क्योंकि बंगला देश से आकर लाखों लोग असम में बसते जा रहे थे। इस आन्दोलन को छात्रों ने आल असम स्टूडेंट्स यूनियन नामक संगठन के तहत चलाया। आन्दोलनकारियों ने माँग की कि चुनाव करवाने से पहले विदेशियों की समस्या को हल किया जाए और विदेशियों के नाम मतदाता सूची से निकाले जाएँ। केन्द्र सरकार ने आन्दोलनकारियों के साथ कई बार बातचीत की, पर विवाद को लटकाए रखा। फरवरी, 1993 में असम में चुनाव करवाने का प्रयास किया गया जिसमें बहुत बड़ी हिंसक वारदातें हुईं।

दिसम्बर, 1984 के लोकसभा चुनाव असम में नहीं हुए। राजीव गाँधी ने सत्ता में आने पर असम समस्या को हल करने के लिए प्रयास किए और अन्त में 15 अगस्त, 1985 को असम समझौता हुआ। दिसम्बर, 1985 में असम विधानसभा के चुनाव हुए। चुनाव लड़ने के लिए छात्रों और अन्य आन्दोलनकारियों ने असम गण परिषद् की स्थापना की। असम गण परिषद् को चुनाव में बहुमत प्राप्त हुआ और प्रफुल्ल कुमार महंत मुख्यमंत्री बने। असम आन्दोलन इन्हीं के नेतृत्व में चलाया गया था। असम गण परिषद् की सरकार समझौते को लागू करने के लिए वचनबद्ध रही। इस समझौते की मुख्य बातें हैं “1966 से 1971 के बीच आए विदेशियों को पहचानना और उनके नाम मतदाता सूची से 10 वर्ष के लिए हटवाना तथा 1971 के बाद विदेशियों को बाहर निकालना।”

2.6.5 क्षेत्रीयतावाद को रोकने के उपाय (Measures for Checking Regionalism)

राष्ट्रीय जीवन के लिए क्षेत्रीयता कोई अच्छी चीज नहीं है। इस पर रोक लगाना ही उचित है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उपायों को सुझाया जा सकता है:

1. केन्द्रीय सरकार की नीति कुछ इस प्रकार की होनी चाहिए कि सभी उप-सांस्कृतिक क्षेत्रों (Sub-cultural regions) का सन्तुलित आर्थिक विकास सम्भव हो जिससे कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक तनाव कम से कम हो।
2. सभी क्षेत्रों के लोगों को समान आर्थिक सुविधाएँ प्रदान की जाएँ जिससे कि अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा व ईर्ष्यों की भावना न पनप सके।
3. भाषा सम्बन्धी झगड़ों का हल शीघ्र ही ढूँढ़ लिया जाए। इस सम्बन्ध में सबसे उचित हल यह है कि सभी क्षेत्रीय भाषाओं को समान मान्यता प्रदान की जाए।
4. हिन्दी भाषा को किसी भी क्षेत्रीय समूह पर जबरदस्ती लादा न जाए। अपितु इस भाषा का प्रचार व विस्तार इस ढंग से किया जाए कि विभिन्न क्षेत्रीय समूह स्वतः ही इसे सम्पर्क भाषा (Link language) के रूप में स्वीकार कर लें।
5. प्रचार के विभिन्न साधनों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों की सांस्कृतिक लक्षणों के विषय में लोगों के सामान्य ज्ञान को बढ़ाया जाए जिससे कि एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र के प्रति अधिक सहनशीलता की भावना को पनपा सकें।
6. केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में सभी क्षेत्रों के नेताओं का सन्तुलित प्रतिनिधित्व हो जिससे कि क्षेत्रीय पक्षपातपूर्ण नीतियों का खण्डन हो सके और केन्द्रीय सरकार के इरादों पर किसी को भी सन्देह न रहे।
7. जहाँ तब सम्भव व व्यावहारिक हो उप-सांस्कृतिक क्षेत्रों की उचित आकांक्षाओं की पूर्ति की जाए यदि उनका कोई बुरा प्रभाव राष्ट्रीय जीवन व संगठन पर न पड़ता हो।
8. भारतीय संघ के राज्यों की संकीर्ण मानसिकता को दूर करने के लिए केन्द्र एवं राज्य सम्बन्धों को इस प्रकार बनाया जाना चाहिए कि उनमें असन्तोष न पैदा हो, वे मजबूत केन्द्र की आवश्यकता को समझें और केन्द्र को भी उनके सहयोग की अनिवार्यता की अनुभूति हो। इन दिनों केन्द्र-राज्य सम्बन्ध भी चर्चा का विषय बना हुआ है। इस सम्बन्ध में सरकारिया आयोग का भी गठन किया गया था जिसने सन् 1987 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इस आयोग की सिफारिशों के माध्यम से केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का पुनर्निर्धारण आर्थिक एवं अन्य सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में एक सन्तुलित नीति निर्धारित करने की ओर होना चाहिए।

2.6.6 निष्कर्ष:

स्वतंत्रता के बाद भारतीय जन मानस में नीवी आकांक्षाएँ उठने लगी। राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व, पंचवर्षीय योजनाएँ, आदि कार्यक्रम आदर्श थे, लेकिन व्यवहार में गरीबी और आर्थिक विषमता भी बढ़ती गयी। इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय एकता और हितों की अपेक्षा क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा मिलने लगा। असन्तोष के इस वातावरण में विभिन्न वर्गों द्वारा शक्ति के लिए संघर्ष की शुरुआत हुई। ऐसे नवीन राजनीतिक दलों का उदय होने लगा, जो कि क्षेत्रीय हितों को लेकर शक्ति अर्जित करने लगे।

क्षेत्रीयता के आधार पर राज्य केन्द्र से सौदेबाजी करने लगे और अपनी जड़ों को मजबूत करने के लिए राजनीतिक दल प्रादेशिकता की भावना का प्रचार करने लगे। प्रादेशिकता के आधार पर चुनावों में उम्मीदवार का मनोनयन किया जाने लगा। सरकार के गठन में क्षेत्रीयता को मानदण्ड बनाया जाने लगा।

2.6.7 मुख्य शब्दावली

- क्षेत्रीयतावाद
- टलगाववादी
- प्रादेशिकता
- परिषद्

2.6.8 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. क्षेत्रवाद की अवधारणा का अर्थ समझाते हुए, इसके उदय के कारणों का उल्लेख कीजिए।
2. क्षेत्रीयतावाद की समस्याओं/चुनौतियों का वर्णन करते हुए, समाधानों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. भारत में क्षेत्रवाद के दुष्परिणामों पर अपनी समीक्षा प्रस्तुत कीजिए।

2.6.9 संदर्भ सूची

- G. Austin, The Indian Constitution: Corner Stone of Nation, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, Working a Democratic Constitution: The Indian Experience, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, An Introduction to the Constitution of India, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B.Paarekh (ed). Crisis and Change in contemporary India, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, The Indian State: Fifty years. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, Politics of India Since Independence Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, Language, Region and Politics in North India London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, Federalism in India: A Study of Union-State Relations, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J.Harriss, Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy, Delhi, Oxford University Press, 2001.

- B. L. Fadia, State Politics in India, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, India: Government and Politics in a Developing Nations, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). Democracy in India, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) Indian Government and Politics, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, Politics in India, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, Party System and Election Studies, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, Government and Politics in India, Delhi, BI Publications, 1974.
- A.C. Noorani, Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, An Introduction to the constitution of India, New Delhi, 1998.
- A. Ray, Tension Areas in India's Federal System, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). Coalition Politics in India, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

2.7 गरीबी उन्मूलन

(Poverty Alleviation)

2.7.1 परिचय:

मानव इतिहास के प्रारम्भ से ही निर्धनता विद्यमान रही है। ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया और जनसंख्या में भी वृद्धि होती गई, गरीबी बड़े पैमाने में दिखाई देने लगी। निर्धनता पर सबसे पहली बार ध्यान तब दिया गया, जब सामाजिक रूप में उसे व्यक्तिगत समस्या से भिन्न देखा गया। परन्तु इसने निराशावाद को भी जन्म दिया। उस समय जो आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ थी, तथा जो वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी ज्ञान उपलब्ध था उससे गरीबी की व्यापकता में कमी न हो सकी क्योंकि जनसंख्या में लगातार वृद्धि होती गई। भाग्यवश, मानव की वैज्ञानिक ज्ञान की सतत् खोज ने इस निराशा को कम किया। उसने वस्तु और सेवाओं के उत्पादन तेजी से बढ़ाने के लिए प्राकृतिक तथा मानव संसाधनों के इस्तेमाल के नए और क्रान्तिकारी तरीके खोज निकाले। इस मूलभूत परिवर्तन के कारण ही निर्धनता को सामाजिक बुराई मानकर उन्मूलन करने के लिए सार्थक कार्य करने का सिलसिला आरम्भ हुआ।

गरीबी शब्द ग्रामीण भारत के लोगों के लिए अपरिचित नहीं है। देश में गरीबी एवं गरीब लोग अनादि काल से रह रहे हैं। जनसंख्या का एक बड़ा भाग नग्न गरीबी में जीवन यापन कर रहा है चाहे वह मन्द गति से होनी वाले आर्थिक विकास का परिणाम ही क्यों न हो। दाण्डेकर एवं रथ के अनुसार, “भारत में गरीबी की समस्या निम्न राष्ट्रीय आय तथा इसके असमान वितरण की मन्द गति तथा विकास के छोटे लाभों का भी असमान वितरण है।” भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में संघन गरीबी दशकों से एक कहावत रहा है। साढ़े पांच दशक की स्वतन्त्रता के योजनाबद्ध विकास का सर्वाधिक दुखद और चिन्तनीय पहलू यह है कि गरीबी भारत के लोगों के चेहरों पर हुक्मनाम की तरह है। ग्रामीण जनता उन अधिकांश सुविधाओं से वंचित है। जिन्हें जीवन के मापदण्डों के अनुसार न्यूनतम आवश्यक समझा जाता है। ग्रामीण लोग अपनी भाग्यवादी प्रवृत्ति के बोझ से दबे हुये होने के कारण जहां एक ओर गरीबी से मेलमिलाप करके आत्मसात हो जाते हैं, वहां दूसरी ओर यह महसूस करते हैं कि गरीबी से छुटकारा पाने के लिए कुछ नहीं किया जा सकता है क्योंकि शायद पूर्व जन्मों के कारण उसे गरीबी से पीड़ित होना पड़ रहा है। इन सब धाराणाओं से प्रतीत होता है कि भारतीयों ने गरीबी के साथ जीना सीख लिया है। गरीबी की समस्या की इस फबकती हुई विशालता से सम्भवतः इसके समाधान को भी नकारा है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद आर्थिक नियोजन न केवल आर्थिक विकास बढ़ाने के उपाय के रूप में अपनाया गया बल्कि गरीबी उन्मूलन भी इसका मुख्य लक्ष्य रहा, परन्तु गरीबी पर बराबर प्रहार करने के लिए कुछ अन्य बातों की भी आवश्यकता होती है। पहला, गरीबी का पता लगाने के निश्चित मापदंड और दूसरा गरीबों का जीवन-स्तर उठाने के लिए ऐसी कार्यनीति जिसमें निश्चित कार्यक्रम है। इसके अतिरिक्त तीसरी आवश्यकता यह है कि गरीबी उन्मूलन कार्य में जो सफलताएँ मिली उनका अवधिक मूल्यांकन। इससे यह पता चल सकेगा कि जो कार्यनीति और कार्यक्रम अपनाए गए हैं, वे कितने प्रभावी सिद्ध हुए हैं।

राज्यवार ग्रामीण गरीबी सारणी 1 में दिया गया है।

सारिणी-1

(प्रतिशत गरीब)

राज्य	1987-88	1999-2000
आन्ध्र प्रदेश	11.9	45.8
असम	13.4	53.4
बिहार	8.6	47.9
गुजरात	16.3	41.2
हरियाणा	3.7	41.2
कर्नाटक	10.0	32.0
केरल	8.4	65.0
मध्य प्रदेश	15.2	30.8
महाराष्ट्र	19.6	41.7
उड़ीसा	13.8	40.8
पंजाब	5.9	56.7
राजस्थान	6.4	21.0
तमिलनाडू	17.9	63.4
उत्तर प्रदेश	4.9	34.6
पश्चिमी बंगाल	11.0	53.4
भारत	11.3	42.4

2.7.2 उद्देश्य

- गरीबी उन्मूलन के विभिन्न लक्षणों को जान सकेंगे।
- गरीबी उन्मूलन की अवधारणा के विभिन्न पक्षों को समझ सकेंगे।
- निर्धनता मापन के तरीकों का आलोचनात्मक समीक्षा कर सकेंगे।
- निर्धनता निवारण के वर्तमान कार्यक्रमों को समझकर उनकी समीक्षा कर सकेंगे।

2.7.3 निर्धनता की संकल्पनाएँ और मापदण्ड (तुलनात्मक) और पूर्ण निर्धनता

आम भाषा में गरीब और अमीर दो ऐसे शब्द हैं जिनका एक दूसरे से संबंध है। गरीब की परिभाषा करने के साथ-साथ अमीर की परिभाषा भी जरूरी है, क्योंकि हम गरीब और अमीर की तुलना करते हैं। भारत में गरीबी के बारे में सबसे पहले दादाभाई नौरोजी ने 1871 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिशरूल इन इण्डिया' में विचार किया जिसमें उन्होंने भारत में प्रति व्यक्ति आय का उल्लेख किया है। उन्होंने यह दिखाया है कि ब्रिटेन की तुलना में भारत बहुत भिन्न है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर की तुलना में भारत में यह स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है, (ब्रिटेन की प्रति व्यक्ति आय 8,870 डालर, अमरीका की 17,480 डालर की तुलना में भारत की प्रति व्यक्ति आय

केवल 290 अमरीकी डालर हो) आज भी भारत 20 गरीब देशों में है। वस्तुतः इस तरह की तुलना में गरीबी को सापेक्ष दृष्टि से देखते हैं। या इसी प्रकार सापेक्ष दृष्टिकोण किसी देश के व्यक्तियों या समूह की पारस्परिक तुलना के लिए अपनाया जा सकता है। सापेक्ष निर्धनता हमेशा रहेगी क्योंकि कुछ देशों या व्यक्तियों की अन्य की तुलना करने पर गरीब हमेशा रहेंगे। इस दृष्टि से यह निर्धनता की अपेक्षा असमानता का सूचकांक अधिक बनता है, जिसकी परिभाषा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक समझे जाने वाले जीवन निर्वाह के न्यूनतम स्तर के संदर्भ में की जाती है। हाल ही के कुछ वर्षों से पूर्ण निर्धनता पर विजय पाने का लक्ष्य सामने रखा गया है।

पूर्ण निर्धनता से अभिप्राय है, जीवन-यापन का स्तर इतना नीचा है जिसमें मानव व्यक्तित्व—अर्थात् शारीरिक, सामाजिक और मानव के स्वाभाविक विकास में बाधा आती है। पूर्ण निर्धनता की रेखा का अभिप्रायः निर्धनता की उस संकल्पना से है जिससे दो व्यक्तियों/वर्गों के बीच अन्तर किया जा सके जो गरीब हैं और जो गरीब नहीं हैं। सामान्यः गरीबी रेखा आमदनी के उस स्तर से आँकी जाती है जो किसी व्यक्ति के लिए उपभोग के न्यूनतम स्तर की वस्तुएँ खरीदने के लिए पर्याप्त हो। न्यूनतम आवश्यकता का अर्थ है, उतनी उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धि, जो व्यक्ति के सामान्य विकास के लिए पर्याप्त हो। जिन लोगों की आय गरीबी रेखा से नीचे है उन्हें गरीब कहते हैं और सभी गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों में इसी वर्ग की गरीबी को दूर करना लक्ष्य माना गया है।

निर्धनता के आयाम

यद्यपि गरीबों की पहचान उनकी आमदनी के आधार पर की जाती है। परन्तु निर्धनता के कई पहलू हैं। शारीरिक दृष्टि से कुपोषण और रहन-सहन से अस्वस्थ इसके मापदण्ड हैं, जिनके कारण बीमारियाँ अधिक हैं और मृत्यु दर बढ़ जाती है तथा औसत आयु घट जाती है। अतः निर्धनता का अर्थ है, देश में शारीरिक क्षमता का निम्न स्तर। मानव क्षमता के संदर्भ में यह शिक्षा और कुशलता के अभाव का द्योतक है जिसके कारण न तो उत्पादन बढ़ पाता है और न ही अधिक मजदूरी के अल्प उत्पादकता से है। गरीबों के पास श्रम के भिन्न संसाधन भी सीमित होते हैं। इसलिए उनका स्वरोजगार भी अधिक उत्पादन नहीं होता। सामाजिक और सांस्कृतिक और सांस्कृतिक ढाँचे कमजोर होने के कारण निर्धन का शोषण होता है, सामाजिक दृष्टि से उसकी हैसियत निम्न होती है, उसके साथ भेदभाव का बर्ताव होता है और सांस्कृतिक क्षेत्र में उसकी उपेक्षा होती है।

गरीबों की पहचान करना एक बहुत ही अहम बात है। गरीबी उन्मूलन के सभी कार्यक्रमों का लक्ष्य उन लोगों की मदद करना है जो जरूरतमंद हैं। अतः गरीबों की पहचान की समस्या काफी महत्व रखती है। भारत में 'गरीबी रेखा' संकल्पना काफी महत्वपूर्ण हो गई है क्योंकि इसी के द्वारा सबसे अधिक तथा दूसरों के बीच भेद किया जाता है। जब निर्धनतम लोगों का पता लग जाए तब उनके उत्थान के लिए निश्चित कार्यक्रम अमल में लाए जा सकते हैं। इससे यह भी सुनिश्चित होता है कि दुर्लभ संसाधन समाज के सभी वर्गों में बराबर थोड़ा-थोड़ा न पहुँचे बल्कि उन्हें दिए जाए जिन्हें इनकी सख्त जरूरत है।

निर्धनता की जो बातें उभरी हैं या स्पष्ट हुई हैं, उन सबको मिलाकर गरीबों का पता लगाने के लिए कोई व्यावहार्य सूचकांक नहीं बनाया जा सकता। इसके लिए हमें दूसरी सबसे अधिक अच्छी प्रक्रिया, आय को आधार बनाना होगा। आय के आधार पर हम यह निर्धारित कर सकते हैं कि कौन गरीब है और कौन गरीब नहीं है। इसी कारण योजनाकारों ने इस प्रक्रिया को अपनाया है। परन्तु यह बात भी ध्यान में रखनी आवश्यक होगी कि गरीबी की कुछ बातें सामाजिक कारणों से भी प्रभावित होती हैं। निर्धनता कम करने में सरकारी नीति और पैसे की विशेष भूमिका होती है। सस्ती शिक्षा, चिकित्सा सुविधा, शुद्ध पेयजल की उपलब्धता का इसमें अहम स्थान है।

गरीबी रेखा की रचना

भारत में गरीबी रेखा की रचना में इन उपायों को रखा गया है। पहला उपाय है वस्तुनिष्ठ आधार पर एक आदमी के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं का निर्धारण। न्यूनतम आवश्यकताओं को हम दो समूहों में, अर्थात् खाद्य और

गैर-खाद्य श्रेणियों में बाँट सकते हैं। खाद्य संबंधी न्यूनतम आवश्यकता पोषाहार आवश्यकता को ध्यान में रखकर निर्धारित की जा सकती है मानव शरीर को कार्बोहाईड्रेट, वास, प्रोटीन, विटामिन तथा खनिज जैसे पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है। विभिन्न आयु वर्गों के स्त्री और पुरुषों को इन पोषक तत्वों को कितनी आवश्यकता है, इसका हिसाब भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् जैसी संस्थाओं ने लगाया है। खाने की जिन वस्तुओं से एक व्यक्ति की आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति होती है, वह एक व्यक्ति की खाद्य सम्बन्धी न्यूनतम आवश्यकता है। भारत में गरीबी रेखा की रचना केवल खाद्य वस्तुओं की खपत के आधार पर की जाती है। बाकी सभी आयामों को छोड़ दिया जाता है। स्पष्ट है कि हमारे समाज में गरीबी की रेखा निश्चित करने के लिए यह काफी नहीं है। परन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि भारत जैसे विशाल देश में यह सूत्र व्यावहार्यता के काफी निकट है क्योंकि हम अपनी आय का बड़ा हिस्सा खाने-पीने पर खर्च करते हैं। दूसरा उपाय है मौजूदा बाजार भावों पर न्यूनतम खाद्य वस्तुओं की आवश्यकताओं की लागत का हिसाब लगाना। इसमें वे भाग लिए जाएँ जो उपभोक्ता को चुकाने पड़ते हैं ताकि हिसाब में ली गई लागत उतनपी हो, जितना पैसा खाद्य वस्तुओं को खरीदने में खर्च होता है।

तीसरे उपाय में प्रति व्यक्ति आय स्तर का हिसाब लगाया जाता है। यह आय दूसरे उपाय में जिस लागत का हिसाब लगाया गया है, उसके बराबर होती है। यह आय स्तर ही गरीबी रेखा है और यह सामान्यतः “प्रति व्यक्ति प्रति मास” के आधार पर अभिव्यक्त की जाती है। तीसरा उपाय पूरा करने के लिए विभिन्न आय वर्ग के लोगों के उपभोक्ता खर्च का ब्यौरा होना जरूरी है।

आप देखेंगे कि गरीबी रेखा का हिसाब खाद्य वस्तुएँ खरीदने के लिए जरूरी पैसे के आधार पर लगाया जाता है। उपभोग की अल्प आवश्यकताओं की मात्रा के आधार पर निर्धारण नहीं किया गया है। बल्कि खाद्य वस्तुओं से भिन्न इन उपभोक्ता वस्तुओं पर वर्तमान उपभोक्ता खर्च को न्यूनतम आवश्यकता माना जाता है। स्पष्ट है कि यह एक अनुमान है, इसे मापदण्ड नहीं माना जा सकता। खाद्य से भिन्न वस्तुओं का वस्तुवार न्यूनतम स्तर निर्धारण करना कठिन है।

यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि पोषक तत्वों की आवश्यकता आमतौर पर कैलोरियों की खपत के बराबर मानी जाती है। योजना आयोग इस कार्यविधि को ही अपनाता है और गरीबी रेखा की परिभाषा प्रति व्यक्ति मासिक आय के उस स्तर के रूप में करता है जो एक व्यक्ति की कैलोरियों की न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त होती है। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि जब औसत भारतीय के खाने में पर्याप्त कैलोरियाँ होती हैं तो आम तौर पर प्रोटीन जैसे अन्य पोषक तत्व भी काफी मात्रा में होते हैं। अगर हम इस टिप्पणी को ध्यान में रखें तो कैलोरियों के आधार पर गरीबी रेखा निर्धारित करने में योजना आयोग के तरीके में अधिक त्रुटि नहीं है।

2.7.4 ग्रामीण निर्धनता के निर्धारक-तत्व

रोजगार आमदनी का साधन है। रोजगार कम हो तो गरीबी बढ़ेगी। अतः गरीबी के निदान के लिए रोजगार के पर्याप्त अवसरों का होना बुनियादी आवश्यकता है। रोजगार कैसे पैदा होता है? रोजगार तब पैदा होता है जब मनुष्य उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग के लिए अपना प्रयोग शारीरिक और बौद्धिक शक्ति का इस्तेमाल करता है। समय के साथ मनुष्य ने अपने कौशल का प्रयोग कर कृत्रिम संसाधनों का विकास किया है। ये संसाधन हैं: उपकरण, साज-समान, उपकरण-प्रणालियाँ आदि। इनसे वह प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करता है। कृत्रिम संसाधनों के विकास से रोजगार के अवसर बढ़ते हैं और प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से रोजगार अधिक उत्पादन बनता है। आय स्तर उठाने के लिए दोनों महत्वपूर्ण हैं। यदि पर्याप्त रोजगार उपलब्ध नहीं है तो विद्यमान सीमित अवसर अधिक लोगों में बाँट जाएंगे। इससे हर व्यक्ति का हिस्सा कम हो जाएगा और आय भी कम होगी। इस सिलसिले को अल्प-रोजगार या गुप्त रोजगार कहते हैं। यदि रोजगार को अधिक उत्पानकारी बनाया जाता है तो नियोजित व्यक्ति की आय भी बढ़ेगी। इस प्रकार अगर सभी को उतना रोजगार देने के लिए हमारे पास पर्याप्त प्राकृतिक और कृत्रिम स्रोत नहीं होंगे, जिससे सभी जीवन-यापन कर सकें और विकास हो सके, तो कुछ लोग गरीबी रेखा से नीचे चले जाएंगे।

ग्रामीण क्षेत्रों में जमीन और पानी प्रमुख प्राकृतिक संसाधन है। यदि ये साधन इतनी मात्रा में उपलब्ध होते कि उनसे हर व्यक्ति को पर्याप्त आमदनी हो जाती तो कोई भी निर्धन नहीं होता। परन्तु समय के साथ-साथ जनसंख्या बढ़ती गई और प्राकृतिक संसाधन उस अनुपात में नहीं बढ़े। इस कमी को पूरा करने के लिए मनुष्य ने कृत्रिमता का सहारा लिया। उसने प्राकृतिक संसाधनों का ज्यादा इस्तेमाल करने और उन्हें अधिक उत्पादन बनाने के लिए उर्वरकों, उन्नत बीजों आदि का विकास किया और नहरें तथा नलकूप (ट्यूबवैल) खुदवाए। परन्तु इन कृत्रिम संसाधनों का लाभ उठाने के लिए धन की आवश्यकता होती है। जिनके पास पैसा नहीं है, वे कृत्रिम संसाधनों का इस्तेमाल नहीं कर सकते और उनके अधिक गरीब होने की संभावना रहती है। इसी तरह अगर हमारे पास जमीन और पानी नहीं है तो हमारे गरीब रहने की संभावना अधिक हो जाती है।

भारत में जनसंख्या बढ़ती जा रही है और उसकी तुलना में प्राकृतिक संसाधन लगातार कम होते जा रहे हैं। आज प्रति ग्रामीण परिवार औसतन एक हैक्टेयर से कुछ अधिक खेती योग्य है। उर्वरकों और अधिक उपज देने वाले बीजों के इस्तेमाल के लिए सिंचाई जरूरी है। परन्तु यहाँ पानी का वितरण समान नहीं है। ऐसी स्थिति में जमीन के समान वितरण से कुछ अल्पकालिक लाभ मिल सकते हैं। परन्तु आने वाले समय में जनसंख्या में वृद्धि के कारण उपलब्ध जमीन और जनसंख्या के बीच संतुलन नहीं रह पाएगा।

आम तौर पर लोग दो तरह से काम करते हैं। एक तो अपना काम है, जिसे हम स्व-रोजगार कहते हैं। दूसरा, दूसरे लोगों का काम करना है, जिसके बदले मजदूरी या वेतन मिलता है। जो अपना काम करते हैं, उनके पास या तो ज़मीन होती है जिसमें वह खेती करते हैं या पैसा होता है जिससे वह व्यापार करते हैं अथवा साज-समान बनाते हैं या फिर सेवाएं प्रदान करते हैं। जो मजदूरी कमाने के लिए खेती में काम करते हैं, उन्हें खेतिहर मजदूर कहते हैं। जिस परिवार के पास बहुत कम जमीन है, वह भी दूसरों की जमीन में मजदूरी पर कार्य कर अपनी आय बढ़ाता है। जो व्यापारी या कारीगर अपनी आमदनी बढ़ाना चाहते हैं, वे भी मजदूरी पर दूसरों का काम करते हैं। इस वर्ग की ग्रामीण के आय के भिन्न-भिन्न साधन हैं क्योंकि उनको उनके मुख्य साधन से पर्याप्त आमदनी नहीं होती।

ग्रामीण इलाकों के सीमित संसाधनों पर जनसंख्या का दबाव कम करने का एक प्रमुख साधन यह हो सकता है कि देहात के लोग शहरों की तरफ आते रहें जिस हम प्रवजन कहते हैं। ग्रामीण इलाकों से कितना प्रवजन होता है, वह इस बात पर निर्भर करता है कि शहरों में उद्योगों, व्यापार और अन्य सेवाओं में कितने मजदूरों की जरूरत है। उनकी मांग किस हिसाब से बढ़ती है। भारत में देहातों से शहरों की ओर लगातार प्रवजन हो रहा है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ हद तक स्थिति सुधरी है। परन्तु ग्रामीण निर्धनता दूर नहीं हुई है। वस्तुतः इस समय जिस पैमाने पर लोग गाँवों से शहरों की ओर जा रहे हैं, उससे शहरी इलाकों में गरीबी बढ़ रही है। शहरीकरण की वर्तमान प्रक्रिया से काफी गंभीर समस्या पैदा हो रही है। जिन राज्यों का कृषि आधार मजबूत है, वहाँ कम लोग शहरों की ओर जाते हैं। पंजाब इसका एक उदाहरण है। कृषि के विकास और आधुनिकीकरण से शहरों की ओर पलायन रोका जा सकता है। इस प्रकार हम देखेंगे कि मजबूत और गतिशील कृषि विकास और आधुनिकीकरण से शहरों दोनों क्षेत्रों में गरीबी कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि गरीबी के कई कारण हैं। जनसंख्या की आवश्यकताओं के अनुसार प्राकृतिक और कृत्रिम संसाधनों की कमी और उनका असमान वितरण ही इसके बुनियादी कारण है। ग्रामीण इलाकों में, जहाँ जनसंख्या अधिक होती है, गरीबी का संबंध कृत्रिम संसाधनों के इस्तेमाल की आवश्यकता है। इन संसाधनों के सही उपयोग के लिए वहाँ टैक्नोलॉजी का इस्तेमाल करने की जरूरत भी है। इन संसाधनों का इतनी कुशलता से उपयोग होना चाहिए कि इनका लाभ अपेक्षाकृत अधिक गरीब लोगों को मिले। इससे स्वरोजगार अधिक उत्पादक होगा तथा भूमिहीन मजदूरों को अधिक रोजगार मिलेगा और उनकी आमदनी बढ़ेगी। इसके साथ-साथ शहरी क्षेत्रों

में भी आर्थिक कार्यकलापों में तेजी से वृद्धि होनी चाहिए ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में जनसंख्या का दबाव कम हो। ये दो बातें ऐसी हैं जिनका ग्रामीण अर्थव्यवस्था के फैलाव पर अतिरिक्त प्रभाव पड़ेगा।

निर्धनता-उन्मूलन के लिए कार्य-नीति और कार्यक्रम

गरीबी हटाने के लिए सरकार ने दोहरी नीति अपनाई है। पहली कार्यनीति सामान्य विकास प्रक्रिया पर निर्भर रहने की है। इसमें कृत्रिम अर्थात् मानव-निर्मित संसाधनों का इस्तेमाल और प्राकृतिक मानव संसाधनों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए टेक्नोलॉजी का इस्तेमाल शामिल है। दूसरी कार्य-नीति में गरीबों की सहायता के लिए विशेष कार्यक्रम अमल में लाना है। इससे संसाधनों के असमान वितरण में सुधार होगा। योजना के आरम्भिक चरणों में, अर्थात् पाँचवें और छठे दशक के दौरान विकास प्रक्रिया और सामुदायिक विकास कार्यक्रम के माध्यम से संस्थाओं के निर्माण पर बल दिया गया ताकि विकास का लाभ गरीबों को मिल सके। योजनाओं का लक्ष्य प्रति व्यक्ति आय में 3 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि रहा। आशा थी कि इससे गरीबों को भी लाभ होगा। परन्तु यह विकास-दर प्राप्त नहीं हुई। प्रति व्यक्ति आय में केवल 1.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। कृषि के क्षेत्र में और भी निराशा हुई। गरीबों तक पहुँचाने के लिए कुछ भी नहीं रहा और जैसा हमने पहले कहा है, कृषि पर अधिक जोर दिया गया और संस्थाओं के निर्माण की अपेक्षा नई टेक्नोलॉजी पर अधिक बल दिया गया। इससे कृषि-जगत में विकास का नया चरण आरम्भ हुआ, जिसे हम हरित-क्रान्ति कहते हैं।

क्षेत्र प्रधान कार्यक्रम

इस वर्ग में जनजाति उप-योजनाएँ और सूखा-प्रवण क्षेत्र कार्यक्रम (डी.पी.ए.पी.) आते हैं। हमारी जनसंख्या का कुछ भाग दूर-दराज के आदिवासी इलाकों में रहता है। उन्हें देश की प्रगति का पूर्ण लाभ नहीं मिला और वे हमारी अर्थव्यवस्था की मुख्य धारा में शामिल नहीं हो पाए। हमारे समाज के सामाजिक तथा आर्थिकरूप से पिछड़े इन लोगों के लिए सरकार ने जन-जाति उप-योजनाएँ तैयार की हैं। इनके लिए पंचवर्षीय योजना की स्कीम के अन्तर्गत अलग से धन निर्धारित किया गया है। सूखा-प्रवण क्षेत्र कार्यक्रम का उद्देश्य आर्थिकरूप से पिछड़े उन क्षेत्रों में सूखे के प्रभाव को कम करना है, जहाँ बार-बार सूखा पड़ता है। इस कार्यक्रम का विशेष लक्ष्य छोटे और सीमान्त किसानों तथा खेतिहर मजदूरों की मदद करना है। आदिवासी और सूखा-प्रवण क्षेत्रों में बहुत बड़ी संख्या में गरीब लोग रहते हैं। इसलिए ये दो कार्यक्रम क्षेत्र प्रधान होते हुए भी अनिवार्यतः गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम ही हैं।

व्यक्ति प्रधान कार्यक्रम

पिछले दिनों कई व्यक्ति प्रधान लाभभोगी उन्मुख कार्यक्रम लागू किए गए। सबसे पुराना कार्यक्रम लघु किसान विकास एजेंसी था, जिसका उद्देश्य छोटे-छोटे किसानों का विकास करना था। दूसरा कार्यक्रम सीमान्त किसान और खेतिहर मजदूर विकास एजेन्सी था। काम के बदले अनाज कार्यक्रम सातवें दशक के आरम्भ किया गया था। इसका उद्देश्य सामुदायिक निर्माण कार्य करना था। जैसे गाँव में सड़क बनाना, लघु सिंचाई सुविधा प्रदान करना, स्कूल भवन बनाना। इससे वहाँ स्थाई परिसम्पत्तियाँ का निर्माण होता था और ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार मिलता था। नौवें दशक में इस कार्यक्रम में फेर-बदल की गई और इसका नाम राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (एन.आई.ई.पी.) रखा गया। काम के बदले अनाज और एन.आर.ई.पी. दोनों का उद्देश्य आधी मजदूरी अनाज के रूप में देना था। ताकि अनाज के फालते स्टॉक का इस्तेमाल हो सके और गरीबों पर भावों के उतार-चढ़ाव का असर भी न पड़े। इन कार्यक्रमों में गरीब मजदूरों को सीधे अनाज लेने का हक दिया गया। राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम के अन्तर्गत नौवें दशक के प्रति वर्ष 30 से 40 करोड़ दिन का अतिरिक्त रोजगार पैदा किया गया।

1983 में एक दूसरा कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (आर.एल.ई.जी.पी.) लागू किया गया। इसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में हर भूमिहीन परिवार से कम से कम एक सदस्य को प्रति वर्ष 100 दिन के रोजगार की गारंटी देना था। यह कार्यक्रम इस प्रकार बनाया गया कि जब खेती के लिए मजदूरों की जरूरत न हो तो उस

समय खेतिहर मजदूरों की आय बढ़ाना भी था। फालतू श्रम है, उसका पूर्ण इस्तेमाल हो। इसका लक्ष्य इन मजदूरों की आय बढ़ाना भी था। 1989-90 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम और ग्रामीण भूमिहीन मजदूर रोजगार गारंटी कार्यक्रम को मिलाकर एक नया कार्यक्रम, जवाहर रोजगार योजना लागू किया गया है। यह सारे देश में लागू होगा और इसका 75 प्रतिशत खर्च केन्द्र सरकार वहन करेगी।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार (एन.आर.ई.पी.) और ग्रामीण भूमिहीन मजदूर रोजगार गारंटी कार्यक्रम (आर.एल.ई.जी.पी.) का लक्ष्य देहाती गरीबों के उस वर्ग की मदद करना था जो मजदूरी करके अपनी आजीविका कमाते थे। परन्तु 1978 में लागू किया गया एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (स्व-नियोजक) जैसे सीमान्त और छोटे किसान, ग्रामीण कारीगर की सहायता के लिए बनाया गया था। इसके अन्तर्गत उन्हें ऐसी उत्पादक परिसम्पत्ति का निर्माण करने के लिए कम ब्याज पर सहायता दी जाती है। जो स्व-रोजगार योजना के लिए जरूरी है। सातवीं योजना के दौरान आई.आर.पी. के टारगेट ग्रुप ने उन परिवारों को शामिल किया, जिनकी वार्षिक आय 6,400 रुपये से कम थी और कार्यक्रम का लक्ष्य उन्हें गरीबी की रेखा से ऊपर उठाना था। छोटे किसानों को परिसम्पत्ति की पूंजीगत लागत में 25 प्रतिशत की छूट दी जाती थी और सीमान्त किसानों तथा भूमिहीनों को 33 प्रतिशत की। अनुसूचित जाति के परिवारों को 50 प्रतिशत छूट दी जाती है सातवीं योजना में एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के लिए 2,463 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी।

छठी योजना में पूर्व रोजगार पैदा करने वाली योजनाएँ

तीसरी योजना के दौरान रोजगार के अवसर प्रदान करने के लिए ग्रामीण जनशक्ति कार्यक्रम (आर.एम.पी.) प्रारंभ किया गया, जिसमें 1964-65 के अंत तक 1000 सामुदायिक विकास खंडों को लिया गया।

चौथी योजना के दौरान सरकार ने रोजगार पैदा करने के लिए एक विशेष योजना प्रारंभ की जिसे त्वरित ग्रामीण रोजगार योजना (सी.एस.आइ.ई.) कहा गया। यह योजनेत्तर कार्यक्रम के रूप में शुरू की गई थी जिसमें शीघ्र और प्रत्यक्ष रोजगार करने के लिए 50 करोड़ रुपये का प्रावधान था। योजना के उद्देश्य निम्नलिखित थे—

प्रत्येक जिले में प्रति वर्ष औसतन 1000 लोगों के लिए रोजगार पैदा करना, तथा स्थानीय विकास योजनाओं के लिए टिकाऊ और उत्पादक परिसंपत्तियाँ उत्पन्न करना।

इस योजना में निर्माण कार्य शामिल थे, जिन्हें दो कार्य सत्रों में पूरा किया जा सकता था। 1972-74 में प्रत्येक वर्ष के लिए 50 करोड़ रुपये के परिव्यय लागत से त्वरित ग्रामीण रोजगार योजना को चौथी पंचवर्षीय योजना में शामिल किया गया।

त्वरित ग्रामीण रोजगार योजना के एक भाग के रूप में एक प्रायोगिक गहन ग्राम रोजगार परियोजना (पी.आई.आर.ई.पी.) भी शुरू की गई। इस परियोजना का लक्ष्य ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को, जो काम करने को तैयार था, रोजगार प्रदान करने की योग्यता की दृष्टि से त्वरित रोजगार योजना के विस्तार के संबंध में आँकड़े एकत्रित करना। त्वरित ग्रामीण रोजगार योजना तीन वर्ष की अवधि तक कार्यान्वित की गई और पाँचवीं योजना के पहले वर्ष तक चलती रही।

त्वरित ग्रामीण रोजगार योजना के अनुभवों से पता चलता है कि संसाधन बड़ी परियोजनाओं तथा निर्माण कार्यों के बजाय बहुत सी छोटी परियोजनाओं तथा निर्माण कार्यों में थोड़ी मात्रा में लगे हैं। बहुत सा खर्च संचार पर ही हुआ जो इस योजना में करना पड़ता था।

1977 में काम के बदले अनाज (FFW) नाम का एक नया कार्यक्रम शुरू हुआ। इसका लक्ष्य आधारित संरचना और स्थायी सामुदायिक परिसम्पत्ति का विकास करते हुए ग्रामीण निर्धनों को रोजगार प्रदान करता था और अधिशेष से खाद्य सामग्री का उपयोग मजदूरी भुगतान के रूप में करना था। यह एक योजनात्तर स्कीम थी जो

राज्य सरकारों की निधियों को बढ़ाने के लिए बनाई गई थी जिसमें छोटे-छोटे सिंचाई कार्य, मृदा और जल संरक्षण, राज-मार्गों पर वृक्षारोपण, नालियों के निर्माण आदि जैसे ग्रामीण लोक निर्माण कार्य का अनुरक्षण किया जाना था।

2.7.5 गरीबी निवारण योजनाएँ

भारत में नियोजित विकास का एक प्रमुख उद्देश्य गरीबी उन्मूलन है। नियोजन युग के आरम्भ से ही इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर कार्यक्रम तथा नीतियां बनाई गईं और आवश्यकतानुसार समय-समय पर उनमें परिवर्तन किया गया। 1980 में तत्कालीन प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने गाँवों में गरीबी पर सीधा प्रहार करने का उद्देश्य स्पष्टरूप से सामने रखा। फलस्वरूप योजना में ग्रामीण समस्या पर अधिक ध्यान दिया गया जिसे सातवीं योजना में और अधिक सम्बल प्रदान किया गया। इस संदर्भ में कुछ विशिष्ट गरीबी निवारण कार्यक्रमों की समीक्षा करना उचित होगा।

1. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम: यह संकल्पना 1976 में देश में चुने हुए बीस जिलों में प्रयोगात्मक आधार पर वास्तविक प्रयोग में लायी गयी थी। इसे 1978-79 और 2,300 चुने हुए खंडों में कुछ संशोधनों के साथ आरम्भ किया गया था, जिनमें से 2,000 लघु किसान विकास एजेंसियां, सूखा प्रवण क्षेत्र कार्यक्रम (डी.पी.एस. पी.) और कमांड क्षेत्र विकास कार्यक्रम से जुड़े हुए थे। 1979-80 में 300 खंड शामिल किए गए जिससे 31 मार्च, 1980 तक देश में 2600 खंडों में कार्यक्रम शुरू हो सका। इसे 2 अक्टूबर, 1980 से देश में सभी खंडों में शुरू किया गया। इसके साथ-साथ लघु किसान विकास एजेंसियों को एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम में मिला दिया गया।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की रेखा से नीचे जीवन स्तर के लोगों को अभिहित करके उन्हें उत्पादक परिसम्पत्ति अथवा उपकरण खरीदने या स्वरोजगार के लिए उपयुक्त कौशल प्राप्त करने के लिए सहायता प्रदान की जाती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी आय में इतनी वृद्धि कर सकता है कि वह विकास प्रक्रिया द्वारा गरीबी रेखा से ऊपर उठ जाये। छठी योजना में शुरू किये गये इस कार्यक्रम का इस योजना के अन्त में मूल्यांकन करने से अनुक कमियों का पता चला। इन कमियों तथा राज्य सरकारों से प्राप्त प्रतिपोषक सूचना के आधार पर सातवीं योजना में अनुकूल परिवर्तन किये गये। गरीबी रेखा का आधार 6,400रु. था, लेकिन आई.डी.पी. कार्यक्रम के अन्तर्गत सहायता के लिए 5 व्यक्तियों की औसत वार्षिक आय का 4800रु. या कम होना आवश्यक था। सातवीं योजना में 2 करोड़ परिवारों को आई. आर.डी.पी. के अन्तर्गत सहायता देने का लक्ष्य रखा गया था जिनमें एक करोड़ तो नये परिवार थे तथा एक करोड़ ऐसे पुराने हितग्राही थे जो गरीबी की रेखा पार नहीं कर सके थे तथा जिन्हें दोबारा लेने की आवश्यकता थी।

सातवीं योजना के दौरान इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 3316 करोड़ रु. की सहायता दी गई जो इसके 3000 करोड़ रु. के लक्ष्य से भी अधिक थी। यदि संस्थागत ऋणों को भी सम्मिलित कर लिया जाये तो कुल निवेश 8688 करोड़ रु. रहा। 2 करोड़ परिवारों के लक्ष्य की तुलना में इससे कुल 1.8 करोड़ जनसंख्या प्रभावित हुई, जो अब तक के संचयी लक्ष्य (1.6 करोड़ रु. परिवार) से अधिक था।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के मूल्यांकन से पता चलता है कि यह कार्यक्रम गरीब परिवारों के लिये अतिरिक्त आय अर्जित करने की दृष्टि से सफल रहा, यद्यपि निर्धनता रेखा के पार करने वाले परिवारों की संख्या कम ही रही। इसका आंशिक कारण आरंभ में किये गये निवेश की मात्रा में अपेक्षाकृत कमी होना है। इस व्यवस्था में यह प्रत्याशा भी उचित प्रतीत नहीं होती कि बैंकों द्वारा हिताधिकारियों को दी जाने वाली

सहायता में वृद्धि की जाये, क्योंकि बैंकों द्वारा दिये गये गैर-चुकता ऋणों की मात्रा बहुत चिन्ताजनक स्थिति में पहुंच चुकी है।

2. स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं के प्रशिक्षण (ट्राइसैम) – अब यह कार्यक्रम स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं के प्रशिक्षण के उद्देश्यों, उसकी कार्यनीति, संगठनात्मक संरचना और संबंधों को देखेंगे।

स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं के प्रशिक्षण का उद्भव तथा उद्देश्य: 1979 में स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं के प्रशिक्षण (ट्राइसैम) देने के लिए एक पृथक राष्ट्रीय योजना स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवकों को प्रशिक्षण शुरू की गई। इस कार्यक्रम को शुरू करने का प्रबल कारण यह था कि ग्रामीण युवकों में बेरोजगारी और अल्पबेरोजगारी बहुत अधिक थी। प्रत्येक (विकास) खंड से 40 युवा-पुरुष और महिला, दोनों को चुना जाता था और उन्हें दक्षता विकास तथा उद्यमवृत्ति, दोनों में प्रशिक्षित किया जाना था ताकि वे स्वरोजगार शुरू कर सकें। स्वरोजगार के अवसर प्रदान करने के अलावा, ट्राइसैम का एक अन्य लक्ष्य भी था। ऐसी आशा की गई थी कि ग्रामीण क्षेत्रों में आमदनी पैदा करने के कार्य सुलभ करने से युवकों का शहरी क्षेत्रों की ओर जाना कम हो जाएगा। इसके अलावा, स्थानीय संसाधनों से स्थानीय आवश्यकताएँ भी पूरी हो सकेंगी और इस प्रकार ग्राम विकास को बढ़ावा मिलेगा।

स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं के प्रशिक्षण कार्यक्रम का उद्देश्य गरीबी की रेखा से नीचे के परिवारों के ग्रामीण युवकों (18-35 वर्ष की आयु) को प्रशिक्षण और तकनीकी दक्षता प्रदान करना है ताकि वे कृषि, उद्योग, सेवाओं और व्यापार कार्यों में स्वरोजगार शुरू कर सकें (1982-83 से मजदूरी पर रोजगार भी जोड़ा गया)। प्रशिक्षण, केवल भौतिक दक्षता के परिप्रेक्ष्य में ही नहीं बल्कि अभिवृत्ति में परिवर्तन, मानवीय संबंधों में प्रेरणा और दक्षता में वृद्धि के संदर्भ में भी देखा गया है। ट्राइसैम के संदर्भ में स्वरोजगार की परिभाषा पूर्णकालिक आधार पर लाभप्रद रोजगार के रूप में की गई है, जिसके फलस्वरूप युवक के परिवार की इतनी आमदनी हो सके ताकि वे गरीबी की रेखा पार कर सकें। जिस रोजगार की स्थिति में उत्पादन के साधन स्वयं के हों, चाहे वे किराये पर हों या पट्टे (लीज) पर हों, उन्हें स्वरोजगार की स्थिति माना जाता है।

जब 1979 में ट्राइसैम शुरू किया गया, देश के लगभग 2,300 खंडों में एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम चालू था। फिर भी चूंकि ग्रामीण युवाओं की समस्या बहुत महत्वपूर्ण समझी गई थी, इसीलिए देश के सभी 5,000 खंडों में स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं का प्रशिक्षण कार्यक्रम शुरू किया गया। जो पहले से ही एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम खंड थे, उनमें इस कार्यक्रम से धनराशि दी गई, जबकि गैर एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम खंडों को अलग से धनराशि दी गई। 1980 में, देश में सभी खंडों में एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम लागू किया गया और ट्राइसैम 'युवकों के लिए स्वरोजगार' एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम का घटक बन गया। वित्त वर्ष 1981-82 के शुरू से ट्राइसैम के लिए अलग धनराशि की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया।

3. राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम: 1980 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम शुरू किया गया जिसका ध्येय ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में रोजगार के अवसरों को बढ़ाना था। इस प्रक्रिया में ग्रामीण क्षेत्रों में आय और उपभोग को पुनः वितरित किया जाना था। ग्रामीण उन्मूलन की दिशा में इसे एक महत्वपूर्ण कदम समझा गया। 1981 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम में "काम के बदले अनाज" ने स्थान ले लिया और उसे छठी योजना में शामिल कर लिया गया।

2.7.6 राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP) के उद्देश्य

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम के उद्देश्य निम्नलिखित थे:-

- ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगार तथा अल्परोजगार वाले पुरुष और महिलाओं दानों के लिए अतिरिक्त लाभकारी रोजगार उत्पन्न करना।
- निर्धनों के लिए प्रत्यक्ष तथा सतत् लाभ के लिए उत्पादक सामुदायिक परिसम्पत्ति का निर्माण करना तथा ग्रामीण आर्थिक और सामाजिक आधारित संरचना को मजबूत करना, जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण अर्थव्यवस्था में तत्काल वृद्धि तथा ग्रामीण निर्धनों की आय में लगातार वृद्धि हो, और ग्रामीण क्षेत्रों के जीवन स्तर में व्यापक सुधार, इस प्रकार राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (एन.आर.ई.पी.) के दो मुख्य उद्देश्य थे,
- ग्रामीण क्षेत्रों के बेरोजगार तथा अल्परोजगार वाले लोगों के लिए प्रति वर्ष बड़ी मात्रा में श्रम दिवसों का सृजन, तथा ग्रामीण क्षेत्रों की आधारिक संरचनात्मक सुविधाओं को मजबूत करने के लिए स्थायी सामुदायिक परिसम्पत्तियों का सृजन,
- एन.आर.ई.पी. के अन्तर्गत सभी निर्माण कार्यों में भूमिहीन मजदूरों को वरीयता दी गई। रोजगार प्रदान करने के लिए, बेरोजगार मजदूरों में से अनुसूचित जातियों और जनजातियों को वरीयता दी गई। इन. आर.ई.पी. के तहत निर्माण कार्य वर्ष में किसी भी समय किए जा सकते थे तथा ये सामुदायिक तथा व्यक्तिगत किसी भी प्रकार के हो सकते थे। लेकिन वरीयता उन निर्माण कार्यों को दी गई जिनमें गरीबों को प्रत्यक्ष लाभ मिलने की संभावना थी। ये या तो समूह द्वारा परिसम्पत्ति के विभिन्न उपयोगों के लिए या परिसम्पत्ति द्वारा सृजित सेवाओं की बिक्री के लिए लाभग्रहियों के स्वामित्व होते थे या उन्हें दिए जा सकते थे ताकि समूह के लिए आमदनी पैदा करनी सुनिश्चित हो सके।

अलग-अलग व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने वाले निर्माण कार्य केवल अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा बंधुआ मजदूरों और भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित होने के कारण कई अधिशेष भूमि के आबंटतियों के लिए तय किये गये थे। एक मुख्य प्रावधान एन.आर.ई.पी. के अधीन निर्माण कार्यों से सम्बन्धित था जिसमें ठेकेदारों को काम पर लगाने की अनुभूति नहीं थी। बिचौलियों या मध्यस्थ एजेंसियों के न होने से यह सुनिश्चित किया गया कि मजदूरी का पूरा-पूरा लाभ वास्तविक लाभग्रहियों को ही मिले।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (एन.आर.ई.पी.) का मूल्यांकन

एन.आर.ई.पी. का मिला-जुला इतिहास रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी को तथा अनाज के मूल्यों को स्थिर रखना, विभिन्न प्रकार की सामुदायिक परिसम्पत्तियाँ सृजित करना, तथा ग्रामीण जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाना इसके मुख्य लाभ थे। इसके कुछ अन्य लाभ भी थे जैसे मजदूरी के कुछ भाग के रूप में अनाज देना और इस प्रकार वास्तविक मजदूरी में वृद्धि। इसके कुछ अन्य लाभ भी थे जैसे मजदूरी के कुछ भाग कॅरुप में अनाज देना और इस प्रकार वास्तविक मजदूरी में वृद्धि। इसके अतिरिक्त इससे कर्मचारियों का न्यूनतम मजदूरी का भुगकान सुनिश्चित हो जाता था। इससे स्थायी सामुदायिक परिसम्पत्तियाँ सृजित करने में मदद मिली और इसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्र की आधारिक संरचनात्मक का आधार दृढ़ हुआ। योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन (पी.ई.ओ.) ने 1981-82 और 1982-83 के एन.आर.आई.पी. का मूल्यांकन किया। इस अध्ययन में 9 राज्यों के 22 जिले, 44 खंड तथा 132 गांव शामिल थे अर्थात् जम्मू और कश्मीर, कर्नाटक, केरल, गुजरात, पंजाब, राजस्थान, त्रिपुरा, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा राज्यों में भी कुछ मामलों के अध्ययन किए गए। अध्ययन के मुख्य निष्कर्ष निम्नलिखित थे:

- एन.आर.ई.पी. के रोजगार सृजित करने के लक्ष्य लगातार प्राप्त किए,

- चुने हुए लाभ भागियों में 44% खेतिहर मजदूर, 8% छोटे किसान तथा 6% सीमांत किसान थे। शेष 18% दूसरे व्यवसायों में लगे लोग थे। लगभग आधे लोग अनुसूचित जातियों/जनजातियों के थे तथा 1/5 अन्य पिछड़े वर्गों के थे और 7% महिलाएँ थीं:
- लाभ भोगियों में से 87% को गाँव में ही नौकरी के अवसर मिलें,
- ग्रामीण परिवारों को कुल आसैत मजदूरी से आय का 23% आय एन.आर.ई.पी. के अंतर्गत रोजगार प्राप्त होती थी,
- प्रति दश परिवारों में रोजगार के लाभ उस सामाजिक वर्ग को मिल रहे थे जिनके लिए यह कार्यक्रम बनाया गया था। यही नहीं, एन.आर.ई.पी. के अंतर्गत मजदूरी राज्य प्रशासन द्वारा नियत न्यूनतम कृषि मजदूरी दर के अनुरूप थे,
- एन.आर.ई.पी. के अंतर्गत सबसे सामान्य परियोजना ग्रामीण सड़कों का निर्माण था, कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन ने कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों की ओर ध्यान आकर्षित किया है वे निम्न हैं:
- राज्य स्तर पर समन्वय समितियों की बैठकें नहीं बुलाते थे,
- 1981-82 में जिन राज्यों का अध्ययन हुआ, उनमें केवल गुजरात, केरल, राजस्थान में ही परियोजना की सूची तैयार की गई थी,
- सांख्यिकीय आँकड़ों का आधार बहुत कमजोर था। जिला तथा राज्य स्तर पर उपलब्ध सांख्यिकीय आँकड़ों का योजन कार्यों के लिए उपयोग नहीं किया गया था,
- एन.आर.ई.पी. के अंतर्गत निर्माण कार्यों को निर्धारण करने की उचित प्राथमिकता नहीं दी गई थी,
- कुछ राज्यों में अनाज बहुत घटिया किस्म के थे, कुछ मामलों में खुले बाजार में खाद्यान्नों की कीमतें कम थीं जिसके कारण कर्मचारी अनाज नहीं लेना चाहते थे,

ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम

हमने एन.आर.ई.पी. की विवेचना विस्तार से की है। इसकी मुख्य विशेषता मजदूरी के कुछ भाग का भुगतान खाद्यान्न के रूप में करना था। आइए, अब हम रोजगार सृजित करने वाले एक अन्य कार्यक्रम के बारे में जानें, अर्थात् भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (आर.एल.ई.जी.पी. जो 1983 में शुरू किया गया था।)

आर.एल.ई.जी.पी के उद्देश्य

- रोजगार अवसरों से विस्तार तथा सुधार करना, विशेषरूप से ग्रामीण भूमिहीन मजदूरों को ध्यान में रखकर कि प्रत्येक भूमिहीन परिवार से कम से कम एक सदस्य को वर्ष में 100 दिन तक रोजगार की गारंटी दी जा सके,
- गरीब वर्ग के लिए प्रत्यक्ष तथा लगातार होने वाले लाभों के लिए तथा ग्रामीण आर्थिक और सामाजिक आधारीक संरचना को मजबूत करने के लिए उत्पादक और स्थायी परिसम्पत्तियाँ सृजित करना जिससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था में तेजी से वृद्धि हो तथा रोजगार के अवसरों और निर्धनों के आमदनी के स्तरों में लगातार वृद्धि हो,
- ग्रामीण क्षेत्रों के जीवन स्तर में सर्वांगीण सुधार करना

ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (आर.एल.ई.जी.पी.) का निष्पादन

आइए, अब हम आर.एल.ई.जी.पी. के कार्य-निष्पादन पर विचार करें। सबसे मुख्य बात जो ध्यान में रखने योग्य है, वह यह है कि कार्यक्रम के गारंटी वाले भाग के मुख्यरूप से संसाधनों की कमी के कारण पूरे देश में लागू नहीं किया जा सका। जिन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में इस कार्यक्रम पर बल दिया गए बंधुआ मजदूरों के लिए छोटी-छोटी आवास इकाइयाँ बनाना, सामाजिक और कृषि वानिकी कार्य, दस लाख कुएँ खुदवाने की योजना के अंतर्गत कुओं के निर्माण तथा सिंचाई, मिट्टी और जल संरक्षण निर्माण कार्य, प्राथमिक स्कूलों के निर्माण, गाँव के तालाब, गाँवों को जोड़ने वाली सड़कों का निर्माण जैसे कार्य शामिल थे।

इंदिरा आवास योजना (आर.ए.वाई.) इस कार्यक्रम का एक मुख्य भाग थी। इस लक्ष्य अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा मुक्त किए गए बंधुआ मजदूरों के लिए आवासीय इकाइयाँ बनाना था। अब यह जवाहर रोजगार योजना के अंतर्गत आती है जिसके बारे में आप आगे खंड में पढ़ेंगे। इंदिरा आवास योजना 1985-86 में आरंभ की गई। सातवीं योजना में 10 लाख छोटी-छोटी आवास इकाइयाँ बनाई जानी थी। इस कार्यक्रम के लिए आबंटन वार्षिक आधार पर किए जाते हैं। 1985-86 में 100 करोड़ रुपये आबंटित किए गए। 1986-87 में यह आबंटन बढ़कर 124 करोड़ रुपये किए गए। 1988 तक 425 करोड़ रुपये की लागत से 4 लाख से अधिक आवासीय इकाइयों का निर्माण किया गया था।

सामाजिक वानिकी आर.एल.ई.पी. का एक दूसरा महत्वपूर्ण घटक है। 1985-86 में फंड की 20 करोड़ राशि इसी के लिए रखी गई थी। बाद के वर्षों में इसे बढ़ा कर 25 करोड़ कर दिया गया। 1988-89 में सामाजिक वानिकी के लिए 71 करोड़ रुपये मंजूर किए गये। 1987-88 में 88 करोड़ रुपयों के आबंटन के मुकाबले खर्च 100 करोड़ रुपये था।

आइए, अब हम आर.एल.ई.पी. के दूसरे घटक अर्थात् दस लाख कुएँ खुदवाने की योजना पर विचार करें। यह योजना 1988-89 में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के छोटे तथा सीमांत किसानों तथा मुक्त किए गए बंधुआ मजदूरों के लिए निःशुल्क सिंचाई सुविधाएँ प्रदान करने के लिए शुरू की गई थी। वर्ष के लिए 95,930 कुओं के निर्माण का लक्ष्य रखा गया जिसके लिए वर्ष भर में 154 रुपयों का पूँजीकरण आवश्यक था।

1983 में जब आर.एल.ई.पी. आरंभ किया गया था तो केंद्र सरकार द्वारा 500 करोड़ रुपयों के परिव्यय का प्रावधान किया गया था। छठी योजना के दौरान केंद्रीय समिति ने 320 परियोजनाओं का अनुमोदन किया जिसकी लागत अनुमानतः 906.59 करोड़ रुपये थी। 1983 से 1985 तक के लिए रोजगार उत्पन्न करने का लक्ष्य 3600 लाख श्रम दिवस था। वास्तविकरूप में रोजगार के 2601.8 लाख श्रम दिवस ही उत्पन्न किए जा सके। छठी योजना के कार्यक्रम के प्रचालन को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि स्थानीय आवश्यकताओं तथा भूमिहीनों के लिए रोजगार के अवसर उत्पन्न करने की अपेक्षा विभागीय योजनाओं के आधार पर परिसम्पत्ति उत्पन्न करने पर ध्यान केन्द्रित करने की प्रवृत्ति थी। सातवीं योजना में भूमिहीन मजदूरों को 80 से 100 दिन की सीमित गारंटी देने का सुझाव दिया गया। आर.एल.ई.पी. के लिए इस पंचवर्षीय योजना में 1,744 करोड़ रुपये के परिव्यय का प्रावधान किया गया। योजना में जैसा, 1984-85 में था 6.61 रुपये प्रतिदिन के अनुपात से मजदूरी की कल्पना की गई। मजदूरी व सामग्री मूल्य का अनुपात 50:50 रखकर इसमें आर.एल.ई.पी. में रोजगार के 10,130 लाख श्रम दिवस सृजित करने का विचार किया गया।

सातवीं योजना के पहले चार वर्षों में आर.एल.ई.पी. की प्रगति तालिका 2 में दी गई है।

तलिका 2: सातवीं योजना के दौरान आर.एल.ई.पी. के अंतर्गत सृजित परिसंपत्ति

सेक्टर	इकाई	1985-86	1986-87	1987-88	1988-89
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
इंदिरा आवास योजना					
समाजिक वानिकी	0.000	52	152	164	137
क) शामिल किया गया क्षेत्र	0.000	533	240	227	174
ख) वनरोपण वृक्ष	मिलियन	27.6	37.3	129.6	147
ग्राम स्वच्छता	0.000		62	66	26
स्कूलों की इमारतें	0.000	8	7	5	3
ग्रामीण सड़कें	.00 कि.मी.	120	152	133	6
मृदा संरक्षण	0.000 है.	75	85	68	10
लघु सिंचाई	.000 है.	19	87	23	14
दस लाख कुएँ	.000				12

जवाहर रोजगार योजना

हमने रोजगार उत्पन्न करने वाले दो मुख्य कार्यक्रमों की चर्चा की। आइए, अब हम एक नए कार्यक्रम जवाहर रोजगार योजना के बारे में चर्चा करें। आप सोच रहे होंगे कि एन.आर.ई.पी. तथा आर.एल.ई.जी.पी. जैसे कार्यक्रमों के होते हुए भी, यह नया कार्यक्रम क्यों शुरू किया गया। स्मरण रखें कि एन.आर.ई.पी. वास्तव में, कार्य के बदले भोजन कार्यक्रम का ही एक संशोधितरूप था। मजदूरी का एक भाग अनाज के रूप में देना, इसकी एक मुख्य विशेषता थी। जहाँ तक आर.एल.ई.जी.पी. का प्रश्न है, इसका मुख्य बल भूमिहीन मजदूरों को रोजगार प्रदान पर था। प्रत्येक ग्रामीण मजदूर परिवार के कम से कम एक सदस्य को वर्ष में 100 दिन तक रोजगार प्रदान करने की गारंटी देना इसका लक्ष्य था।

तथापित एक नए कार्यक्रम की योजना की आवश्यकता महसूस की गई जो पिछड़े क्षेत्रों में गहन रोजगार पर विशेषरूप से ध्यान दे। अतएव पिछड़े जिलों में गरीबी और बेरोजगारी कम करने पर जोर दिया गया।

जवाहर रोजगार योजना कार्यक्रम की पृष्ठभूमि

1989-90 के बजट भाषण में तत्कालीन वित्तमंत्री ने एक नई स्कीम की घोषणा की जिसका लक्ष्य चिरकालिक गरीबी तथा बेरोजगारी वाले पिछड़े जिलों में रोजगार प्रदान करना था। 120 जिलों में इसे लागू करने का निश्चय किया गया और इसके लिए बजट में 500 करोड़ रूपयों का प्रावधान रखा गया। नई स्कीम के अंतर्गत आबंटित की गई धन राशि एन.आर.ई.पी. तथा आर.एल.ई.जी.पी. के अंतर्गत आबंटित धन राशि से अलग थी। इस नई स्कीम का नाम 'जवाहर रोजगार योजना' रखा गया। ऐसा भी कहा गया कि एन.आर.ई.पी. तथा आर.एल.ई.जी.पी. दोनों को मिलाकर एक कार्यक्रम बनाया जाएगा तथा केन्द्र में इसके प्रायोजित स्कीम के रूप में कार्यान्वित किया

जाएगा। केंद्र तथा राज्यों के बीच 75:25 के अनुपात में फंडों की सांझेदारी होगी। बाद में पूरे मामले पर पुनः विचार किया गया। ऐसा निश्चय किया गया कि एन.आर.ई.पी. आर.एल.ई.जी.पी. तथा नई स्कीम जवाहर लाल नेहरू रोजगार योजना तीनों को मिलाकर जवाहर रोजगार योजना (जे.आर.आई.) के नाम से एक ही कार्यक्रम होगा। केंद्र और राज्य इस कार्यक्रम पर 80:20 के आधार पर खर्च करेंगे। इस कार्यक्रम के अंतर्गत केंद्र का हिस्सा जिलों में सीधे जिला ग्रामीण विकास एजेंसियों को वितरित किया जाएगा। जिले को दिए गए हिस्से में से कम से कम 80:20 (केंद्र तथा राज्य दिया गया हिस्सा) ग्राम पंचायतों को दिया जाएगा।

आइए, अब हम इस कार्यक्रम पर कुछ विस्तार से विचार करें।

जवाहर रोजगार योजना की विशेषताएँ

इस कार्य का मूल उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों के बेरोजगार तथा अल्परोजगार लोगों के लिए अतिरिक्त लाभकर रोजगार उत्पन्न करना है। गौण उद्देश्य है, सामुदायिक उत्पादक परिसम्पतियाँ सृजित करना, जो गरीबों को लाभ पहुँचा सके तथा इस प्रकार ग्रामीण आधारित संरचना मजबूत हो सकेगी। इसके परिणामस्वरूप, ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक सुधार होता दिखाई दिया है। दूसरा गौण उद्देश्य है ग्रामीण क्षेत्रों के जीवन स्तर पर सर्वांगीण सुधार। इस कार्यक्रम का लक्ष्य समूह वे लोग थे जो गरीबी रेखा के नीचे रह रहे थे। इसके अतिरिक्त गरीबों में से भी अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों का वरीयता दी जाती है। इसके अतिरिक्त, यह भी सुनिश्चित करना जरूरी है कि कम से कम 30%लाभ भोगी महिलाएँ हों। वे सभी कार्य जिनसे स्थायी सामुदायिक परिसम्पतियाँ सृजित होती हैं, उस कार्यक्रम में शामिल किए जा सकते हैं। उन कार्यों को वरीयता दी जानी चाहिए जिससे गरीबों को लाभ पहुँचे तथा जो परिसम्पति के रूप में गरीबों को दिए जा सें या उनके स्वामित्व में किए जा सकें। गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम के अंतर्गत उन कार्यों को अधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए जो आधारिक संरचना के रूप में जरूरी है। उन कार्यों के लिए कुछ विशिष्टियाँ नियत की गई हैं जिनसे अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लोगों को लाभ पहुँचाता है, सामाजिक वानिकी के निर्माण कार्यों, इंदिरा आवास योजना के अधीन आवासों का निर्माण भी इसमें शामिल थे जो आर.एल.ई.जी.पी. का एक भाग है और जो जवाहर रोजगार योजना में भी शामिल था। इसके अतिरिक्त दस लाख कुएँ खोदने की स्कीम जो 1988-99 में शुरू की गई थी, अभी भी जारी रखा जा रही है। सामाजिक वालिकी के लिए गैर सरकारी संगठनों की भागीदारी की भी अपेक्षा की जाती है।

जवाहर रोजगार योजना के अंतर्गत मजदूरी का कुछ भाग नकद तथा कुछ भाग अनाज के रूप में अदा किया जा सकता है। इसके अलावा, अनाज के वितरण की दर 1.5 किलोग्राम प्रति श्रम दिवस से अधिक नहीं होनी चाहिए। मजदूरी जहाँ तक संभव हो, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के अनुसार दिया जाना चाहिए। एन.आर.ई.पी. तथा आर.एल.ई.जी.पी. में जिन विशिष्टियों का उल्लेखनीय किया गया है, वहीं जवाहर रोजगार योजना पर भी लागू होती है। अनाज की इमादादी दर वही है जो एन.आर.ई.पी. के अधीन है। इसके अतिरिक्त जवाहर रोजगार योजना में ठेकेदारों को शामिल करने की अनुमति नहीं है।

ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास

(डी.डब्ल्यू.सी.आर.ए.)

पिछली इकाई में अपने एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम जो मुख्य गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम है के बारे में पढ़ा है। जैसी हमने उस इकाई में चर्चा की, पहले कुछ वर्षों के बाद हमारे नियोकों ने महसूस किया कि महिलाएं उतना लाभ नहीं पा रही हैं, जितनी कि आशा की गई थी। इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं और बच्चों के लिए विशेष कार्यक्रम तैयार करना आवश्यक समझा गया। इसके तर्क का आधार यह था कि व्यक्तियों को यदि न्यूनतम बुनियादी, पोषाहार मिलता है तो वे और अधिक बेहतर ढंग से काम कर सकते हैं। परन्तु वे आधारिक पोषाहार तभी ले सकते हैं जब उनकी निश्चित न्यूनतम आमदनी हो। मूलतः ग्रामीण परिसम्पतियों को सुलभ बनाकर आमदनी पैदा

की जा सकती है। इसके अलावा, महिलाएँ बेहतर कार्यकुशलता और प्रशिक्षण का उपयोग करेंगी तथा अपने कार्यों से बेहतर लाभ प्राप्त कर सकेंगी।

ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास कार्यक्रम के उद्देश्य तथा कार्यनीति

ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण महिलाओं को उत्पादनकारी आमदनी पैदा करने वाली परिसम्पत्तियाँ और आत्म-सम्मान प्रदान करना तथा उनकी कार्यकुशलता बढ़ाना है। यह प्रभावकारी संगठनात्मक सहायता ढाँचा प्रदान करने का प्रयत्न करता है ताकि महिलाएँ समान के उत्पादन और सेवाओं में अधिक प्रभावी ढंग से सहायता प्राप्त कर सकें। ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास कार्यक्रम का लक्ष्य समूह भी वैसा ही है, जैसा कि एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम का होता है अर्थात् व परिवार जिनकी वार्षिक आय, 4,800 रुपये से कम हो। फिर भी, एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम से इसमें बुनियादी अंतर यह है कि डी.डब्ल्यू.सी.आर.ए. के अधीन सहायता अलग-अलग प्रत्येक परिवार को नहीं दी जाती है, बल्कि समूह को दी जाती है। डी.डब्ल्यू.सी.आर.ए. स्कीम में समूह बनाने की सकल्पना की गई है। प्रत्येक समूह में 15 से 20 महिलाएँ होती हैं तथा यह आशा की जाती है कि महिलाएँ एक साथ कार्य करेंगी जो उनके लिए सामूहिक तौर पर लाभदायक होगा। समूह के लिए उपलब्ध वित्तीय सहायता निम्न प्रकार है:

क) पुराने अनुदान के रूप में 15,000 रुपये, जो भारत सरकार, राज्य सरकार और यूनिसेफ द्वारा बराबर-बराबर दिया जाता है, जिनका उपयोग निम्न प्रकार किया जा सकता है:

- कच्चा माल प्राप्त करने और विपणन कार्यों के लिए कार्यशील पूंजी।
- एक वर्ष तक समूह संगठनकर्ताओं का मानदेय जो 50 प्रति मास से अधिक नहीं होता है।
- आमदनी पैदा करने वाले कार्यों के लिए आधरिक सहायता।
- शिशु देखभाल सुविधाएँ।

मूल्यांकन:

सातवीं पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास कार्यक्रम के लिए 48.05 करोड़ रुपये का परित्याग था। इसमें से 20.30 करोड़ रुपये केन्द्र का हिस्सा था। यूनीसेफ का हिस्सा 27.75 करोड़ रुपये था। 1982 से, जब से ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास कार्यक्रम शुरू किया गया, दिसम्बर, 1988 तक लगभग गरीबी की रेखा से नीचे की 0.38 मिलियन महिलाओं का आमदनी पैदा करने वाले कार्य शुरू करने में सहायता की गई। उसी अवधि में महिलाओं के लगभग 22,000 समूह बनाए गए हैं।

तालिका 3: ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास के अधीन महिला समूह

वर्ष	समूहों की संख्या	सम्मिलित महिलाओं के लिए	
		लक्ष्य	उपलब्धियाँ
1983-84	1,035	536	8,785
1984-85	5,000	2,772	43,285
1985-86	5,000	6,038	1,00,966
1986-87	7,500	5,545	96,132
1987-88	7,500	4,959	82,265
1988-89	7,500	5,968	98,936
1989-90	7,500	5,551	90,294

स्रोत: ग्रामीण विकास विभाग, भारत सरकार

ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास कार्यक्रम में कुछ बुनियादी कमियों और समस्याएँ हैं जिससे कार्यकरण में कठनाइयाँ पेश आती हैं। ये हैं: प्रत्येक स्तर पर कर्मचारियों की भर्ती, आधारीक संरचना सुविधाओं और ऋण का अभाव, परियोजनाओं के चनय में समस्याएँ, समहों की भूमिका के बारे में स्पष्ट निर्देशों का अभाव और समूहों के सदस्यों को प्रोत्साहित एवं प्रेरणा की कमी।

स्वनियोजित महिलायें और अनौपचारिक क्षेत्र में महिलाओं पर राष्ट्रीय आयोग की रिपोर्ट (1988) में उल्लेख किया गया है कि पश्चिम बंगाल जैसे कुछ राज्यों में डी.डब्ल्यू.सी.आर.ए. अच्छी कोटि की वस्तुओं का उत्पादन करने में पर्याप्त सफल रहा है। पंजाब में महिला आर्थिक विकास निगम को डी.डब्ल्यू.सी.आर.ए. से जोड़ा गया है और इसलिए वह सरकारी संविदाओं के माध्यम से उत्पादों के विपणन में सफल रहा है। फिर भी, अभी कुछ समस्याएँ विद्यमान हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास (डी.डब्ल्यू.सी.आर.ए.)

पिछली इकाई में आपने एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम जो मुख्य गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम है के बारे में पढ़ा है। जैसी हमने उस इकाई में चर्चा की, पहले कुछ वर्षों के बाद हमारे नियोजकों ने महसूस किया कि महिलाएँ उतना लाभ नहीं पा रही हैं, जितनी कि आशा की गई थी। इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं और बच्चों के लिए विशेष कार्यक्रम तैयार करना आवश्यक समझा गया। इसके तर्क का आधार यह था कि व्यक्तियों को यदि न्यूनतम बुनियादी, पोषाहार नहीं हुई है—सम्पूर्ण प्रशिक्षण में प्रबंधकीय दक्षकता को महत्वपूर्ण अंग नहीं बनाया गया है। इसके अलावा, गरीबों में सबसे गरीब महिलाओं को अधिकतम लाभ प्राप्त नहीं हुए हैं। आमतौर पर गरीब महिलाओं में साधारणतया कम गरीब महिलाएँ हैं जिन्होंने समूह बनाए हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास कार्यक्रम के अधीन एक प्रावधान यह भी है कि डी.डब्ल्यू.सी.आर.ए. के सदस्य एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम के अधीन ऋण आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकते हैं। जैसा कि आपने पिछली इकाई में पढ़ा है कि सकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम के अधीन लाभार्थियों की इकाई परिवार है। यहाँ महिलाओं को कतिपय समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यद्यपि काफी महिलाएँ परिवार की मुखिया होती हैं, खास तौर पर जहाँ पुरुष शहरों में प्रवास करते हैं, ऐसी परिस्थिति में उन्हें ऋण लेने में कठिनाई होती है।

सुनिश्चित रोजगार योजना

अक्टूबर 1993 और 257 जिलों के 1752 खण्डों के ग्रामीण क्षेत्रों में सुनिश्चित रोजगार योजना कार्यान्वित की गई जहाँ पुनर्गठित सार्वजनिक वितरण योजना चल रही है। इस योजना का उद्देश्य उन ग्रामीण गरीब लोगों, जिन्हें रोजगार की नितान्त आवश्यकता है और जो रोजगार की तलाश में हैं, की अकुशल स्वरूप के शारीरिक श्रम हेतु 100 दिनों का सुनिश्चित रोजगार उपलब्ध कराना 100 दिनों के रोजगार का आश्वासन 18 वर्ष से अधिक और 69 वर्ष से कम आयु के उन पुरुषों तथा महिलाओं का दिया जाता है जो आमतौर पर सुनिश्चित रोजगार योजना के तहत शामिल किये गये खण्डों के गांवों में निवास करते हैं। एक परिवार में अधिकतम दो बालिक व्यक्ति इस योजना में रोजगार पा सकेंगे।

उद्देश्य

सुनिश्चित रोजगार योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों के उन सक्षम तथा सतर्क शरीर वाले सभी बालिक लोगों को जो काम करने के इच्छुक हैं। और जिन्हें काम की जरूरत है लेकिन उन्हें कहीं काम नहीं मिल पा रहा है, को संबंधित जिलों के लिए राज्य सरकार द्वारा निर्धारित गैर-कृषि मौसम के दौरान सामान्य योजना/गैर योजना वाले कार्यों पर अथवा फार्म या अन्य संबंधित रोजगार उपलब्ध कराना है। इस योजना का गौण-उद्देश्य लोगों के लिए सतत रोजगार तथा विकास हेतु आर्थिक आधारभूत ढांचे तथा सामुदायिक परिसम्पत्तियों का सृजन करना है।

प्राथमिकताएं

सुनिश्चित रोजगार योजना के तहत निम्नलिखित स्वरूप के कार्यों को प्राथमिकता दिये जाने का प्रावधान है:

- (क) जन संभर वाटर शैड विकास के तहत जन संरक्षण, भूमि सुरक्षा, हरियाली संरक्षण, वन-रोपण, कृषि-वानिकी, वन-चरागाह आदि के लिए तैयार की गई अभिक्रिया योजनाओं के आधार पर चुने गए कार्य।
- (ख) लघु-सिंचाई तालाबो, परिस्त्रवण टैंकों, ग्रामीण तालाबों तथा नहरों से संबंधित कार्य।
- (ग) गांवों को सड़कों से जोड़ने हेतु जिलों के लिए तैयार किए गए मास्टर प्लान के आधार पर चुने गये सम्पर्क मार्ग के कार्य।
- (घ) जवाहर रोजगार योजना के तहत कार्यान्वित किये जा रहे आपरेशन लोक बोर्ड कार्यक्रम के पैटर्न पर प्राथमिक स्कूलों में भवन।
- (ङ) आंगनवाड़ियों के लिए भवन।

मुख्य विशेषतायें

इस योजना की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं:

- (क) इस योजना के अंतर्गत रोजगार के इच्छुक सभी मजदूरों को अपनी-अपनी पंचायत में अपना पंजीकरण करवाना होगा। काम के लिए पंजीकृत सभी लोगों को एक परिवार पत्र दिया जाएगा जिसमें परिवार के सदस्यों का और उन्हें इस वर्ष उन्हें दिये गये रोजगार का विवरण दर्ज होगा।
- (ख) यह योजना पंचायतों द्वारा जिला, प्रखण्ड और ग्राम स्तर पर कलेक्टर/उपायुक्त की देख-रेख, दिशा-निर्देशन और नियंत्रण में चलायी जाएगी।
- (ग) इस योजना के अंतर्गत आने वाले प्रत्येक विकास प्रखण्ड के कलेक्टर/उपायुक्त के निर्देशन में परियोजनाओं की एक सूची तैयार की गई। सुनिश्चित रोजगार उपलब्ध कराने की इन परियोजनाओं में भूमि एवं न संरक्षण कार्य, बागवानी, वनरोपण, रेशम उद्योग जैसी सामाजिक प्रक्रियाओं को शामिल किया गया।

प्रधानमन्त्री की रोजगार योजना

यह योजना 2 अक्टूबर, 1993 को प्रारम्भ की गई इसका उद्देश्य शिक्षित बेरोजगार युवाओं को उद्योग सेवा और व्यापार के क्षेत्रों में अपना उद्योग शुरू करने के लिए अवसर प्रदान करना था। इस योजना को 1993-94 से शहरी क्षेत्रों में और 1994-95 से पूरे देश में लागू किया गया। इस योजना के अन्तर्गत व्यक्तिगत मामलों में एक लाखरूपये तक का ऋण उपलब्ध कराने का प्रावधान है। इस ऋण की मात्रा उद्योग की किस्म पर निर्भर करेगी। आय वाले परिवारों के 18 और 55 वर्ष के बीच की उम्र के युवा सहायता पाने के पात्र हैं 1998-99 में इस योजना के लिए 110 करोड़ रूपये निर्धारित किये गए थे।

जवाहर ग्राम समृद्धि योजना

यह योजना जवाहर रोजगार योजना का पुनर्गठित एवं विस्तृतरूप है। यह योजना 1 अप्रैल 1999 को शुरू की गई। यह ग्रामीण गरीबों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने और उनकी सहायता के लिए रोजगार उपलब्ध कराने के लिए चलाई गई है। यह योजना सीधे ग्राम पंचायत स्तर पर लागू होती है। ग्राम पंचायत की प्रत्यक्षरूप से वार्षिक कार्य योजना ग्राम सभा की अनुमति को तैयार करती है और लागू करती है। इसमें 22.5 प्रतिशत धन अनुसूचित जाति व जन जातियों के लिए व्यक्तिगतरूप से मुनाफे के लिए प्रावधान किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत 15 प्रतिशत पैसा वस्तुओं की देख-रेख के लिए खर्च किया जाता है। इसके तहत ग्राम पंचायत बिना किसी

अनुमति से 50000रूपये तक खर्च कर सकती है और 50000 रूपये से अधिक के कार्य के लिए तकनीकी सहयोगियों की अनुमति लेनी पड़ती है।

स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना

ग्रामीण क्षेत्र में गरीबों के स्वरोजगार के लिए ग्रामीण विकास मन्त्रालय द्वारा गरीबी उन्मूलन तथा ग्रामीण विकास के लिए अप्रैल 1999 को स्वर्णजयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना नामक कार्यक्रम चलाया गया, जिसके अन्दर समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण कार्यक्रम, ग्रामीण मिस्त्रीयों के लिए नवीन औजार किटों का वितरण गंगा कल्याण योजना तथा दस लाख कुओं की योजना आदि को मिलाया गया। यह कार्यक्रम केन्द्र सरकार द्वारा संचालित है, जिसमें केन्द्र तथा राज्यों के द्वारा धन आबंटन की प्रतिशत 75.25 है यह योजना पंचायत समिति के माध्यम से जिला ग्रामीण विकास एजेंसी द्वारा लागू की जाती है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सामुहिक कार्य को प्राथमिकता दी जाती है और इसमें गरीबों के संगठन को जिसको स्वयं सहायता समूह का नाम दिया गया है जिसमें महिलाएं भी शामिल होंगी द्वारा कार्य किया जाएगा। प्रत्येक पंचायत समिति में कम से कम आधे स्वयं-सहायता समूहों में महिलाएं होंगी। इस योजना में लाभार्थियों की बजाय उनको स्वरोजगारी का नाम दिया गया है। इन व्यक्तिगत स्वरोजगारी योजनाओं के विकास अधिकारी या इसका प्रतिनिधि, बैंक कर्मचारी तथा सरपंच होते हैं।

1999-2000 के दौरान 1472.33 करोड़ रुपये इस कार्यक्रम के लिए निर्धारित किए गए, जो पिछले बकाया को मिलाकर तथा राज्यों का हिस्सा मिलाकर कुल 19.7.66 करोड़ था। जिसमें से खर्च 959.86 प्रतिशत था। 2000-2004 के बजट में इस योजना के लिए 800 करोड़ रुपये निर्धारित किए गए हैं।

सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना

यह योजना सितम्बर 2001 को आरम्भ की गई इसमें सुनिश्चित रोजगार योजना तथा जवाहर ग्राम समृद्धि योजना को मिलाया गया और सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना का नाम दिया गया। इस योजना के दोहरे उद्देश्य हैं, प्रथम ग्रामीण क्षेत्र में मजदूरी सम्बन्धित रोजगार मुहैया करवाना तथा द्वितीय ग्रामीण गरीबों को अन्न प्रदान करना। इसके अन्तर्गत प्रत्येक कार्य दिवस में प्रत्येक मजदूर को 5 किलोग्राम अनाज मजदूरी के रूप में देना होता है। यह कार्यक्रम पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से लागू किया जाता है। इस कार्यक्रम में मजदूरी के रूप में दिया जाने वाला पैसा केन्द्र तथा राज्यों के द्वारा 75.25 प्रतिशत के अनुसार तथा अनाज की पूरी कीमत केन्द्र सरकार द्वारा दी जाती है। प्रथम बार इस योजना के लिए 4900 करोड़ रुपये आबंटित किए गये, जिसमें 4125 करोड़ रुपये नकद तथा 775 करोड़ रुपये अनाज के रूप में दिए गए।

2.7.7 निष्कर्ष

हम कह सकते हैं कि भारत सरकार ने समय-समय पर गरीबी उन्मूलन के अनेक कार्यक्रम आरम्भ किए हैं और उनके सकारात्मक नतीजे भी मिले हैं परन्तु भारत की जनसंख्या इतनी अधिक बढ़ती जा रही है कि हर कार्यक्रम इसके लिए सक्षम साबित नहीं होता है। इसलिए जनसंख्या नियन्त्रण पर ही गरीबी के उन्मूलन कार्यक्रम सही कदम साबित हो सकते हैं अर्थात् गरीबी को नियन्त्रित किया जा सकता है।

2.7.8 मुख्य शब्दावली

- निर्धनता
- गरीबी रेखा
- क्षेत्र प्रधान
- सामुदायिक
- ग्रामीण विकास

2.7.9 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. गरीबी उन्मूलन से क्या समझते हैं? इसकी संकल्पनाएँ और मापदण्डों का उल्लेख कीजिए।
2. भारत में निर्धनता से मुक्ति पाने के लिए रोजगार सृजन करने वाले कार्यक्रम क्यों महत्वपूर्ण हैं, उल्लेख कीजिए।
3. क्या निर्धनता और बेरोजगारी के बीच कोई संबंध है? टिप्पणी कीजिए।
4. राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम के उद्देश्यों का विस्तृत में वर्णन करो।

2.7.10 संदर्भ सूची

- G. Austin, *The Indian Constitution: Corner Stone of Nation*, Oxford, Oxford University Press, 1966.
- G. Austin, *Working a Democratic Constitution: The Indian Experience*, Delhi, Oxford University Press 2000.
- D. D. Basu, *An Introduction to the Constitution of India*, New Delhi, Prentice Hall, 1994.
- D. D. Basu and B. Paarekh (ed). *Crisis and Change in contemporary India*, New Delhi, Sange, 1994.
- C. R Bhambhri, *The Indian State: Fifty years*. New Delhi, Shipra, 1997.
- P. Brass, *Politics of India Since Independence* Hyderabad, Orient Longman, 1990.
- P. Brass, *Language, Region and Politics in North India* London, Cambridge University Press, 1974.
- A. Chanda, *Federalism in India: A Study of Union-State Relations*, London, George Alien & Unwin, 1965.
- S. Cambridge and J. Harriss, *Reinventing India: Liberalization Hindu Nationalism and Popular Democracy*, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- B. L. Fadia, *State Politics in India*, 2 Vols, New Delhi, Rediant Publishers, 1984.
- R. L. Hardgrave, *India: Government and Politics in a Developing Nations*, New York, Harcourt, Braqce and World. 1965.
- N. G. Jayal (ed.). *Democracy in India*, Delhi, Oxford University Press, 2001.
- S. Kaushik (ed.) *Indian Government and Politics*, Delhi University, Directorate of Hindi Implementation, 1990.
- A. Kohli, *Democracy and Discontent: India's Growing Crisis of Governability*, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- R. Kothari, *Politics in India*, New Delhi, Orient Longman, 1970.
- R. Kothari, *Party System and Election Studies*, Bombay, Asia Publishing House 1967.
- W. H. Morris Jones, *Government and Politics in India*, Delhi, BI Publications, 1974.
- A.C. Noorani, *Constitutional Questions in India: The President, Parliament and the States*, Delhi, Oxford University Press, 2000.
- M. V. Pylee, *An Introduction to the constitution of India*, New Delhi, 1998.
- A. Ray, *Tension Areas in India's Federal System*, Calcutta, The World Press, 1970.
- N. C. Sahni (ed.). *Coalition Politics in India*, Jullundher. New Academic Publishing Company, 1971.

इकाई-3

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(Objective Type Questions)

निम्न में से सही उत्तर का चयन कीजिए।

1. भारत की संसद में किन को शामिल किया गया है?
(क) लोकसभा और राज्यसभा (ख) राष्ट्रपति, लोकसभा और राज्यसभा
(ग) राष्ट्रपति, मन्त्रिपरिषद् और लोकसभा (घ) उपर्युक्त में कोई नहीं
2. राज्यसभा में अधिक-से अधिक कितने सदस्य हो सकते हैं?
(क) 200 (ख) 230
(ग) 250 (घ) 300
3. भारत की राज्यसभा में राष्ट्रपति संसद के कितने सदस्यों को मनोनीत करता है?
(क) 2 (ख) 10
(ग) 12 (घ) 15
4. राजसभा के सदस्यों का कार्यकाल कितने वर्ष है?
(क) 2 वर्ष (ख) 4 वर्ष
(ग) 5 वर्ष (घ) 6 वर्ष
5. राज्यसभा में सबसे अधिक प्रतिनिधित्व किस राज्य का है?
(क) मध्यप्रदेश (ख) उत्तर प्रदेश
(ग) महाराष्ट्र (घ) तमिलनाडू
6. राज्यसभा के 1/3 सदस्य कितने वर्षों में अवकाश ग्रहण करते हैं?
(क) एक वर्ष में (ख) दो वर्ष में
(ग) तीन वर्ष में (घ) चार वर्ष में
7. राज्यसभा का सभापति कौन होता है?
(क) राज्यसभा का सदस्य अपना सभापति स्वयं निर्वाचित करते हैं।
(ख) भारत का उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है।
(ग) राष्ट्रपति मनोनीत करता है।
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
8. भारत की लोकसभा में निर्वाचित सदस्यों की संख्या अधिक-से-अधिक कितनी हो सकती है?
(क) 525 (ख) 545
(ग) 547 (घ) 550

9. लोकसभा के सदस्य होने के लिए कितनी अवस्था निश्चित की गई है?
 (क) 25 वर्ष (ख) 30 वर्ष
 (ग) 35 वर्ष (घ) 21 वर्ष
10. लोकसभा का सामान्य कार्यकाल क्या है?
 (क) 4 वर्ष (ख) 5 वर्ष
 (ग) 6 वर्ष (घ) 7 वर्ष
11. लोकसभा द्वारा प्राप्त किए गए धन सम्बन्धी विधेयक को राज्यसभा अधिक-से-अधिक कितने दिन रोक सकती है?
 (क) 14 दिन (ख) 30 दिन
 (ग) एक दिन (घ) 60 दिन
12. लोकसभा का अध्यक्ष किसके द्वारा निर्वाचित होता है?
 (क) राष्ट्रपति द्वारा (ख) उपराष्ट्रपति द्वारा
 (ग) प्रधानमंत्री द्वारा (घ) लोकसभा के सदस्यों द्वारा
13. संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठककी अध्यक्षता कौन करता है?
 (क) राष्ट्रपति (ख) प्रधानमंत्री
 (ग) लोकसभा अध्यक्ष (घ) उपराष्ट्रपति
14. वित्त विधेयक संसद के किस सदन में पहले पेश किया जाता है?
 (क) लोकसभा में (ख) राज्यसभा में
 (ग) दोनों सदनों में साथ-साथ (घ) उपर्युक्त में से किसी में नहीं
15. निम्न में से कौन-सा कार्य संसद का नहीं है?
 (क) कानूनों का निर्माण करना (ख) बजट पास करना
 (ग) संविधान में संशोधन करना (घ) शासन चलाना
16. वर्तमान समय में निम्न में से कौन राज्यसभा का सभापति है?
 (क) शिवराज पाटिल (ख) के. आर. नारायण
 (ग) विश्वनाथ प्रताप सिंह (घ) उपरोक्त में से कोई नहीं
17. लोकसभा में विपक्ष के किस नेता को विपक्ष के नेता के रूप में मान्यता प्राप्त है?
 (क) लालकृष्ण आडवाणी (ख) अटल बिहारी वाजपेयी
 (ग) विश्वनाथ प्रताप सिंह (घ) अजती सिंह
76. लोकसभा के सदन की गणपूर्ति होती है:
 (क) 1/10 सदस्य (ख) 1/8 सदस्य
 (ग) 1/2 सदस्य (घ) 1/3 सदस्य

77. लोकसभा के वर्ष में कम-से-कम कितने अधिवेशन अनिवार्य हैं?
 (क) एक (ख) दो
 (ग) तीन (घ) चार
78. लोकसभा के उपाध्यक्ष का चुनाव होता है:
 (क) राष्ट्रपति द्वारा (ख) संसद द्वारा
 (ग) जनता द्वारा (घ) लोकसभा के सदस्यों द्वारा
79. भारतीय संविधान में संसद का उल्लेख किस अनुच्छेद में किया गया है?
 (क) 78 (ख) 79
 (ग) 80 (घ) 81
80. लोकसभा में संघीय क्षेत्रों में अधिकतम प्रतिनिधि हो सकते हैं?
 (क) 525 (ख) 530
 (ग) 500 (घ) 520
81. लोकसभा में संघीय-क्षेत्रों में अधिकतम प्रतिनिधि हो सकते हैं—
 (क) 20 (ख) 22
 (ग) 25 (घ) 24
82. राज्यसभा के सदस्य के लिए निश्चित आयु सीमा है:
 (क) 21 वर्ष (ख) 25 वर्ष
 (ग) 30 वर्ष (घ) 35 वर्ष
83. भारत में निम्न में से कौन संघीय कार्यपालिका का अध्यक्ष है?
 (क) राष्ट्रपति (ख) उप-राष्ट्रपति
 (ग) प्रधानमंत्री (घ) भारत का मुख्य न्यायाधीश
84. भारत के राष्ट्रपति का चुनाव किस प्रकार होता है?
 (क) राष्ट्रपति का चुनाव एक निर्वाचक मंडल द्वारा होता है। जिसमें संसद के दोनों सदनों तथा राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होते हैं।
 (ख) संसद द्वारा चुनाव
 (ग) जनता द्वारा चुनाव
 (घ) प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्ति
85. राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार को कितने सदस्यों द्वारा प्रस्तावित किया जाना आवश्यक है?
 (क) कम-से-कम दो, संसद सदस्य (ख) निर्वाचक मंडल के 10 सदस्य
 (ग) निर्वाचक मंडल के 20 सदस्य (घ) प्रधानमंत्री द्वारा समर्थन

86. राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के लिये न्यूनतम आयु कितनी निश्चित की गई है?
 (क) 25 वर्ष (ख) 30 वर्ष
 (ग) 35 वर्ष (घ) 40 वर्ष
87. भारत के राष्ट्रपति का चुनाव कितने वर्ष के लिये होता है?
 (क) 4 वर्ष (ख) 5 वर्ष
 (ग) 6 वर्ष (घ) जीवन भर के लिए
88. भारत के राष्ट्रपति को शपथ किस पदाधिकारी द्वारा दिलाई जाती है?
 (क) भारत का मुख्य न्यायाधीश (ख) भारत का उप-राष्ट्रपति
 (ग) प्रधानमंत्री (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
89. भारत के राष्ट्रपति का चुनाव किस चुनाव प्रणाली के आधार पर किया जाता है?
 (क) प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली
 (ख) एकल संक्रमणीय मत पद्धति के आधार पर आनुपातिक प्रतिनिधित्व चुनाव प्रणाली
 (ग) सूची-प्रणाली
 (घ) संचित मत प्रणाली
90. राष्ट्रपति के पद का चुनाव किसके द्वारा कराया जाता है?
 (क) भारत के चुनाव आयोग द्वारा
 (ख) भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा
 (ग) लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा
 (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
91. राष्ट्रपति को पद से हटाने का अधिकार किसके पास है?
 (क) भारत का मुख्य न्यायाधीश
 (ख) प्रधानमंत्री
 (ग) संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित महाभियोग द्वारा
 (घ) भारत का चुनाव आयोग
92. राष्ट्रपति के चुनाव से सम्बन्धी विवादों का निर्णय किसके द्वारा किया जाता है?
 (क) उच्चतम न्यायालय द्वारा (ख) संसद द्वारा
 (ग) चुनाव आयोग द्वारा (घ) लोकसभा द्वारा
93. भारत के राष्ट्रपति की क्या स्थिति है?
 (क) वह भारत का संवैधानिक अध्यक्ष है
 (ख) वह वास्तविक शासक है
 (ग) वह बहुमत दल कानेता है, जो शासन चलाता है
 (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

94. राष्ट्रपति अध्यादेश किस प्रकार जारी करता है?
 (क) संसद की पूर्व स्वीकृति से (ख) स्वयं अपनी इच्छा से
 (ग) मंत्रिपरिषद् की सलाह पर (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
95. राष्ट्रपति आपातकालीन घोषणा कब करता है?
 (क) विदेशी आक्रमण के समय (ख) किसी राज्य में दंगे-फसाद होने पर
 (ग) राज्य में शासन ठीक प्रकार न चलने पर (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
96. राष्ट्रीय संकटकालीन घोषणा अब तक कितने बार हो चुकी है?
 (क) एक बार (ख) दो बार
 (ग) तीन बार (घ) चार बार
97. भारत के वर्तमान राष्ट्रपति हैं
 (क) शिवराज पाटिल (ख) आर. वेंकट रमन
 (ग) डॉ. शंकर दयाल शर्मा (घ) पी.वी. नरसिम्हाराव
98. भारत के नवें राष्ट्रपति ने किस तिथि को राष्ट्रपति पद ग्रहण किया?
 (क) 23 जुलाई, 1992 (ख) 13 जुलाई, 1992
 (ग) 16 जुलाई, 1992 (घ) 28 जुलाई, 1992
99. वर्तमान समयमें राष्ट्रपति का मासिक वेतन है?
 (क) 10,000 रुपये (ख) 15,000 रुपये
 (ग) 11,000 रुपये (घ) 20,000 रुपये
100. भारत के राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों का उल्लेख है:
 (क) 310 अनुच्छेद से 314 अनुच्छेद (ख) 342, 344, 346 अनुच्छेद
 (ग) 79, 80 व 82 अनुच्छेद (घ) 352, 356
101. भारत के उपराष्ट्रपति का मासिक वेतन है –
 (क) 7500 रुपये (ख) 2250 रुपये
 (ग) 5000 रुपये (घ) 3000 रुपये
102. भारत के वर्तमान उप-राष्ट्रपति हैं—
 (क) डॉ. शंकरदयाल शर्मा (ख) आर.के. नारायण
 (ग) शिवराज पाटिल (घ) अर्जुन सिंह
103. भारत में राष्ट्रपति पद के लिए कितने चुनाव हो चुके हैं?
 (क) आठ (ख) नौ
 (ग) दस (घ) ग्यारह

104. भारत के प्रथम राष्ट्रपति थे –
 (क) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (ख) सी.गोपालचार्य
 (ग) डॉ. राधा कृष्णन (घ) डॉ. जाकिर हुसैन
105. भारत के प्रथम उप-राष्ट्रपति थे –
 (क) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (ख) सी. राधाकृष्णन
 (ग) डॉ. वी.वी. गिरि (घ) डॉ. जाकिर हुसैन
106. राष्ट्रपति का पद रिक्त होने पर उसे ग्रहण करता है –
 (क) उपराष्ट्रपति (ख) सर्वोच्च न्यायालय का न्यायधीश
 (ग) प्रधानमंत्री (घ) गृहमंत्री
107. उस राष्ट्रपति का नाम चयन कीजिए जो निर्विरोध राष्ट्रपति निर्वाचित हुए –
 (क) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (ख) सी. राधाकृष्णन
 (ग) नीलम संजीव रेड्डी (घ) ज्ञानी जैल सिंह
108. उस राष्ट्रपति का नाम चुनिए जो दूसरी पसन्दों के आधार पर चने गए –
 (क) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (ख) डॉ. पी.वी गिरि
 (ग) डॉ. राधाकृष्णन (घ) उपरोक्त में से कोई नहीं
109. भारत का राष्ट्रपति राज्यसभा में कितने सदस्यों को मनोनीत करता है?
 (क) 2 (ख) 6
 (ग) 10 (घ) 12
110. भारत में वास्तविक कार्यपालिका शक्ति किसमें निहित होती है?
 (क) संसद (ख) राष्ट्रपति
 (ग) मन्त्रिपरिषद् (घ) प्रधानमंत्री
111. भारत की संघीय मन्त्रिपरिषद् में निम्न में से कौन शामिल होते हैं?
 (क) राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति
 (ख) प्रधानमंत्री तथा अन्य मंत्री
 (ग) राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री
 (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
112. निम्न में से किस श्रेणी के मन्त्री महत्वपूर्ण निर्णय लेते हैं?
 (क) कैबिनेट (ख) राज्यमंत्री
 (ग) उपमंत्री (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

113. भारत की संघीय मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को किस प्रकार नियुक्त किया जाता है?
- (क) राष्ट्रपति द्वारा (ख) प्रधानमंत्री द्वारा
(ग) संसद द्वारा (घ) प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा
114. भारत की संघीय मन्त्रिपरिषद् की अध्यक्षता कौन करता है?
- (क) राष्ट्रपति (ख) उपराष्ट्रपति
(ग) प्रधानमंत्री (घ) लोकसभा का अध्यक्ष
115. भारत की संघीय मन्त्रिपरिषद् अपने पद पर किसके विश्वास पर रहती है?
- (क) लोकसभा के विश्वास के आधार पर (ख) संसद के सदनों के विश्वास के आधार पर
(ग) राष्ट्रपति इच्छा पर्यन्त (घ) प्रधानमंत्री की इच्छा पर्यन्त
116. मंत्री, जो संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं है, वह कितने समय तक अपने पद पर रह सकता है?
- (क) 3 महीने के लिए (ख) 6 महीने के लिए
(ग) 1 वर्ष के लिए (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
117. भारत की मन्त्रिपरिषद् निम्न में से कौन-सा कार्य नहीं करती?
- (क) राष्ट्रीय नीति निश्चित करना
(ख) संसद के सदनों में बिलों का पेश करना
(ग) संसद के सदनों में बजट को पेश करना
(घ) बिलों की स्वीकृति देना
118. भारत का प्रधानमंत्री किस प्रकार नियुक्त होता है?
- (क) राष्ट्रपति की इच्छानुसार
(ख) संसद द्वारा निर्वाचित
(ग) लोकसभा द्वारा निर्वाचित
(घ) लोकसभा के बहुमत नेता चुने जाने पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति
119. भारत की संघीय मन्त्रीपरिषद् का निम्न में से कौन नेता होता है?
- (क) राष्ट्रपति (ख) उपराष्ट्रपति
(ग) प्रधानमंत्री (घ) लोकसभा का अध्यक्ष
120. भारत का प्रधानमंत्री कितने समय तक अपने पद पर रहता है?
- (क) 5 वर्ष
(ख) राष्ट्रपति की इच्छा पर्यन्त
(ग) जब तक प्रधानमंत्री का संसद के सदनों में बहुमत है
(घ) जब तक प्रधानमंत्री का लोकसभा में बहुमत है

121. वर्तमान समय में भारत का निम्न में से कौन प्रधानमंत्री है?
 (क) श्रीमती इन्दिरा गांधी (ख) श्रीमोरारजी देसाई
 (ग) श्री राजीव गांधी (घ) श्री नरसिम्हा राव
122. जनवरी 1980 के लोकसभा चुनाव में भारत का निम्न में से कौन प्रधानमंत्री बना?
 (क) श्रीमती इन्दिरा गांधी (ख) श्री राजीव गांधी
 (ग) श्री मोरारजी देसाई (घ) श्री लाल बहादुर शास्त्री
123. राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी ने किस प्रधानमंत्री की सलाह पर 1979 में लोकसभा को भंग किया था?
 (क) श्रीमती इन्दिरा गांधी (ख) श्री मोरारजी देसाई
 (ग) चौ. चरण सिंह (घ) श्री राजीव गांधी
124. प्रधानमंत्री निम्न में से किस का प्रधान है?
 (क) संघ की सरकार (ख) भारत राज्य का प्रधान
 (ग) भारत राज्य और सरकार दोनों का प्रधान (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
125. भारत के सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था किसके द्वारा की गई है?
 (क) संसद के द्वारा (ख) संविधान के द्वारा
 (ग) राष्ट्रपति के आदेश के द्वारा (घ) उपर्युक्त में से किसी के द्वारा नहीं
126. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति कौन करता है?
 (क) भारत का राष्ट्रपति (ख) उप-राष्ट्रपति
 (ग) प्रधानमंत्री (घ) संसद के द्वारा चुनाव
127. वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या कितनी है?
 (क) 11 (ख) 15
 (ग) 17 (घ) 26
128. भारत के सर्वोच्च न्यायालय किस स्थान पर स्थित है?
 (क) दिल्ली में (ख) नई दिल्ली में
 (ग) चण्डीगढ़ में (घ) मद्रास में
129. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश कितनी आयु प्राप्त करने पर अवकाश ग्रहण करते हैं?
 (क) 60 वर्ष (ख) 62 वर्ष
 (ग) 65 वर्ष (घ) 58 वर्ष
130. वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का मासिक वेतन कितना है:
 (क) 24,000 रुपये (ख) 25,000 रुपये
 (ग) 29,000 रुपये (घ) 33,000 रुपये

131. सर्वोच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों को मासिक वेतन कितना मिलता है?
- (क) 24,000 रुपये (ख) 25,000 रुपये
(ग) 30,000 रुपये (घ) 32,000 रुपये
132. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को पद से किस प्रकार हटाया जा सकता है?
- (क) राष्ट्रपति के आदेश द्वारा
(ख) प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा
(ग) सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश
(घ) संसद के दोनों सदनों के महाभियोग द्वारा
133. सर्वोच्च न्यायालय का निम्न में से कौन-सा क्षेत्राधिकार नहीं है?
- (क) संविधान की व्याख्या करना (ख) मौलिक अधिकारों की रक्षा करना
(ग) राष्ट्रपति को सलाह देना (घ) राज्यपाल को सलाह देना
134. राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से निम्न में से किस विषय पर परामर्श ले सकता है?
- (क) भारत सरकार के कर्मचारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में
(ख) राज्य सूची के कानूनके सम्बन्ध में
(ग) कानून की संवैधानिकता पर
(घ) उपर्युक्त में से किसी पर नहीं
135. क्या राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दी गई सलाह से बाध्य है?
- (क) बाध्य है (ख) बाध्य नहीं है
(ग) सीमितरूप से बाध्य है (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
136. निम्न में से कौन भारत में सर्वोच्च न्यायालय है?
- (क) संसद (ख) राष्ट्रपति
(ग) सर्वोच्च न्यायालय (घ) सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय
137. भारत के सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्निरीक्षण को अधिकार किस विदेशी राज्य के सर्वोच्च न्यायालय के अनुरूप है।
- (क) ग्रेट ब्रिटेन (ख) संयुक्त राज्य अमेरिका
(ग) सोवियत संघ (घ) स्विटजरलैंड
138. न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अर्थ है:
- (क) कानूनों की संवैधानिकता के आधार पर जांच करना
(ख) कानूनों की व्याख्या करना
(ग) संघ तथा राज्यों के क्षेत्राधिकारों को निश्चित करना
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

139. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनर्निरीक्षण के अधिकार का वर्णन संविधान के किस अनुच्छेद में किया गया है?
- (क) 13(2) (ख) 32
(ग) 131-132 (घ) 226
140. भारत में निम्न में से किस कानूनी न्यायिक प्रक्रिया की स्थापना की गई है?
- (क) दो न्यायिक प्रणाली (ख) कानून की उचित प्रक्रिया सिद्धांत
(ग) कानून के द्वारा स्थापित प्रक्रिया (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
141. भारत में किन में से किसके द्वारा न्यायिक पुनर्निरीक्षण अधिकार का प्रयोग किया जाता है?
- (क) संसद (ख) राष्ट्रपति
(ग) सर्वोच्च न्यायालय (घ) उच्च न्यायालय
142. सर्वोच्च न्यायालय को निम्न में से कौन-सा अधिकार नहीं है?
- (क) संविधान की व्याख्या (ख) मौलिक अधिकारों की रक्षा करना
(ग) संघ और राज्यों के मध्य कोई झगड़ा (घ) राज्यों के मध्य जल-सम्बन्धी विवाद
143. निम्न में से किन मुकद्दमें में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि संसद का मौलिक अधिकारों का संशोधन करने का अधिकार नहीं है?
- (क) शंकरा प्रसाद, बनाम भारत, 1952
(ख) सज्जन सिंह बनाम राजस्थान, 1965
(ग) गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य मुकद्दमा, 1967
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
144. उच्च न्यायाधीश के न्यायालय की नियुक्ति करता है:
- (क) राष्ट्रपति (ख) प्रधानमंत्री
(ग) संसद (घ) मुख्य न्यायाधीश
145. उच्च न्यायालय की न्यायाधीश अपने पद पर रहते हैं:
- (क) राष्ट्रपति (ख) प्रधानमंत्री
(ग) संसद (घ) मुख्य न्यायाधीश
146. उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को वेतन मिलता है:
- (क) 25,000रूपये प्रति मास (ख) 28,000रूपये प्रति मास
(ग) 30,000रूपये प्रति मास (घ) 30,000रूपये प्रति मास
147. उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का मासिक वेतन है:
- (क) 26,000रूपये प्रति मास (ख) 24,000रूपये प्रति मास
(ग) 29,000रूपये प्रति मास (घ) 30,000रूपये प्रति मास

148. उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद से हटाये जा सकते हैं:
- (क) राष्ट्रपति द्वारा (ख) प्रधानमंत्री द्वारा
(ग) संसद के महाभियोग द्वारा (घ) राज्यपाल द्वारा
149. सर्वोच्च न्यायालय का कौन-सा ऐसा न्यायाधीश था जिसके ऊपर लोक-सभा में 1993 में महाभियोग चलाया गया परन्तु वह पारित न हो सका?
- (क) न्यायाधीश आर.रामास्वामी (ख) न्यायाधीश सीकरी
(ग) न्यायाधीश शैलेट (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
150. निम्न में से राज्य की कार्यपालिका का कौन अध्यक्ष होता है?
- (क) राष्ट्रपति (ख) उप-राष्ट्रपति
(ग) प्रधानमंत्री (घ) राज्यपाल
151. राज्यपाल की नियुक्ति निम्नलिखित में से किसके द्वारा जाती है?
- (क) राष्ट्रपति (ख) प्रधानमंत्री
(ग) संसद (घ) मुख्यमंत्री
152. राज्यपाल की नियुक्ति कितने वर्ष के लिए की जाती है?
- (क) 3 वर्ष (ख) 4 वर्ष
(ग) 5 वर्ष (घ) 6 वर्ष
153. राज्यपाल को कितना मासिक वेतन मिलता है?
- (क) 10,000रूपये (ख) 11,000रूपये
(ग) 5,000रूपये (घ) 3,000रूपये
154. राज्यपाल को पद से किसके द्वारा हटाया जाता है?
- (क) राष्ट्रपति (ख) प्रधानमंत्री
(ग) राज्य के मुख्यमंत्री (घ) राज्य की विधानसभा
155. राज्य के मुख्यमंत्री की नियुक्ति निम्न में से किसके द्वारा होती है?
- (क) राष्ट्रपति (ख) राज्यपाल
(ग) राज्य की विधानसभा (घ) प्रधानमंत्री
156. राज्यपाल निम्नलिखित में से किस व्यवस्था के अनुसार मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है?
- (क) अपनी इच्छा के अनुसार (ख) जिसे विधान-सभा में बहुमत प्राप्त हो
(ग) प्रधानमंत्री की इच्छानुसार (घ) राष्ट्रपति की इच्छानुसार
157. राज्य की मन्त्रि-परिषद् निम्न में से किसके प्रति उत्तरदायी है?
- (क) राज्यपाल (ख) मुख्यमंत्री
(ग) राज्य की विधान-सभा (घ) संसद

158. क्या कोई व्यक्ति एक से अधिक राज्य का भी राज्यपाल हो सकता है?
 (क) हाँ (ख) नहीं
 (ग) अधिक से अधिक तीन महीने के लिए (घ) 6 महीने के लिए
159. राज्य का राज्यपाल किस स्थिति में अध्यादेश जारी कर सकता है?
 (क) जब राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो
 (ख) जब वह चाहे
 (ग) जब राष्ट्रपति ऐसा करने के लिए आदेश दे
 (घ) जब विधानसभा अधिवेशन में न हो और विशेष परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए कानून की आवश्यकता हो।
160. राज्यपाल किसकी सलाह पर अपने स्वविवेकी अधिकारों का प्रयोग करता है?
 (क) अपने आप (ख) मुख्यमंत्री की सलाह पर
 (ग) मन्त्रि-परिषद् की सलाह पर (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
161. राज्य में राष्ट्रपति शासन किसकी सिफारिश पर किया जाता है?
 (क) मुख्यमंत्री की सिफारिश पर
 (ख) मन्त्रि-परिषद् की सिफारिश पर
 (ग) राज्यपाल की सिफारिश पर
 (घ) राज्य की विधानपालिका द्वारा प्रस्ताव पास होने पर
162. मन्त्रि-परिषद् के विभिन्न विभाग निम्नलिखित में से किसके द्वारा बांटे जाते हैं?
 (क) राज्य की इच्छानुसार (ख) मुख्यमंत्री द्वारा
 (ग) सदस्यों की अपनी इच्छानुसार (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
163. चौधरी बंसीलाल को जून 1986 में किस राज्यपाल ने मुख्यमंत्री के पद की शपथ दिलाई थी?
 (क) सैयद मुजफ्फर हुसैन बर्नी (ख) जी.डी. तपासे
 (ग) चौ. भजनपाल (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
164. राज्य में वास्तविक कार्यपालिका निम्नलिखित में से किसमें निहित होती है?
 (क) राज्यपाल (ख) मुख्यमंत्री
 (ग) मन्त्रि-परिषद् (घ) राज्य की विधानपालिका
165. एक राज्य से दूसरे राज्य में राज्यपाल का तबादला किसके द्वारा किया जाता है?
 (क) राष्ट्रपति (ख) प्रधानमंत्री
 (ग) मुख्यमंत्री (घ) संसद

166. मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या निम्नलिखित में से किसके द्वारा निश्चित की जाती है?
 (क) संविधान द्वारा (ख) संसद द्वारा
 (ग) राज्य की विधानपालिका द्वारा (घ) मुख्यमंत्री द्वारा
167. भारत में निम्न में से किस प्रकार की दलीय-व्यवस्था है?
 (क) एक-दलीय-व्यवस्था (ख) बहु-दलीय प्रणाली
 (ग) दो-दलीय प्रणाली (घ) सुसंगठित दलीय प्रणाली
168. भारत में वर्तमान समय में संघ में कौन-सा दल सत्ता में है?
 (क) कांग्रेस (आई) (ख) जनता दल
 (ग) भारतीय जनता पार्टी (घ) लोकदल
169. 1952 के आम चुनाव में राष्ट्रीय स्तर के कितने दल थे?
 (क) 14 (ख) 15
 (ग) 16 (घ) 17
170. कांग्रेस दल की स्थापना किस वर्ष में हुई थी?
 (क) 1978 (ख) 1885
 (ग) 1907 (घ) 1924
171. भारत में साम्यवादी दल की स्थापना किस वर्ष में हुई थी?
 (क) 1906 (ख) 1975
 (ग) 1977 (घ) 1955
172. जनता पार्टी की स्थापना किस वर्ष में हुई थी?
 (क) 1950 (ख) 1975
 (ग) 1977 (घ) 1955
173. 1977 के लोकसभा चुनावों में केन्द्र में किस दल को सत्ता प्राप्त हुई थी?
 (क) कांग्रेस (आई) (ख) लोकदल
 (ग) जनता दल (घ) साम्यवादी दल
174. निम्न में से कौन-सा दल साम्प्रदायिक है?
 (क) कांग्रेस (आई) (ख) जनतादल
 (ग) जनता दल (एस) (घ) अकाली दल
175. वर्तमान समय में भारतीय जनता पार्टी की सरकार किस राज्य में है?
 (क) आन्ध्र प्रदेश (ख) कभी नहीं
 (ग) तमिलनाडू (घ) मिजोरम

176. भारतीय जनता पार्टी की स्थापना किस वर्ष में हुई थी—
 (क) 1980 (ख) 1977
 (ग) 1991 (घ) 1979
177. भारत में दल-बदल को समाप्त करने के लिए कौन-सा संशोधन पारित किया गया है?
 (क) 50 वां (ख) 51 वां
 (ग) 52 वां (घ) 54 वां
178. मई-जून 1991 में दसवीं लोकसभा के चुनाव में किस दल को सत्ता प्राप्त हुई है?
 (क) कांग्रेस (आई) (ख) जनतादल
 (ग) राष्ट्रीय मोर्चा (घ) भारतीय जनता दल
179. दल-बदल कानून से सम्बन्धित विवाद का निर्णय करता है —
 (क) सर्वोच्च न्यायालय (ख) राष्ट्रपति
 (ग) सदन का अध्यक्ष (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
180. निम्न में से कौन-सा राजनीतिक दल संविधान के अनुच्छेद 370 को जम्मू-कश्मीर से सम्बन्धित है, समाप्त करने का समर्थक है?
 (क) कांग्रेस (आई) (ख) जनतादल
 (ग) भारतीय जनता दल (घ) साम्यवादी मार्क्सवादी दल
181. भारत में दलीय प्रणाली की विशेषता नहीं है—
 (क) एक-दलीय (ख) बहु-दलीय प्रणाली
 (ग) क्षेत्रीय दल का होना (घ) साम्प्रदायिक दलों का होना
182. तमिलनाडू में कौन-सा दल सत्ता में है?
 (क) कांग्रेस (आई) (ख) डी.एम.के.
 (ग) अन्ना डी.एम.के. (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
183. वर्तमान समय में तमिलनाडू में मुख्यमंत्री हैं—
 (क) करुणानिधि (ख) कुमारी जयललिता
 (ग) रामचन्द्रन (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
184. वर्तमान समय में कांग्रेस (आई) दल के अध्यक्ष हैं—
 (क) पी.वी. नरसिम्हा राव (ख) अर्जुन सिंह
 (ग) शरद पंवार (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
185. निम्न में से किस दल के चुनाव घोषणा-पत्र 1991 में राष्ट्रवाद के साथ राम, रोटी और इन्साफ का नारा दिया।
 (क) भारतीय जनता पार्टी (ख) कांग्रेस (आई)
 (ग) जनता दल (घ) जनता दल (एस)

186. निम्न में से किस दल के चुनाव घोषणा-पत्र 1991 में राष्ट्रवाद के साथ राम, रोटी और इन्साफ का नारा दिया।
- (क) भारतीय जनता पार्टी (ख) कांग्रेस (आई)
(ग) साम्यवादी दल (घ) जनता दल
187. मई-जून 1991 के दसवीं लोकसभा चुनाव में कांग्रेस (आई) को कितने स्थान प्राप्त हुए?
- (क) 199 (ख) 215
(ग) 224 (घ) 117
188. मई-जून 1991 के दसवीं लोकसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी को कितने स्थान प्राप्त हुए?
- (क) 224 (ख) 115
(ग) 119 (घ) 120
189. भारत में निम्न में से कितनी भाषाएँ प्रचलित हैं?
- (क) 179 (ख) 200
(ग) 220 (घ) 544
190. भारत के संविधान द्वारा कितनी भाषाओं को मान्यता दी गई है?
- (क) 14 (ख) 18
(ग) 16 (घ) 17
191. राष्ट्रीय आन्दोलन के किस नेता ने प्रथम चार बार प्रान्तों का गठन भाषाओं के आधार पर करने का समर्थन किया था?
- (क) महात्मा गांधी (ख) श्री बल्लभ भाई पटेल
(ग) श्री जवाहर लाल नेहरू (घ) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद
192. भाषा के आधार पर राज्यों के गठन के लिए आयोग की नियुक्ति कब की गई थी?
- (क) 1950 में (ख) 1955 में
(ग) 1956 में (घ) 1980 में
193. निम्न में से भारत की राष्ट्र-भाषा कौन सी है?
- (क) हिन्दी (ख) अंग्रेजी
(ग) मराठी (घ) तेलगू
194. भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किस वर्ष किया गया था?
- (क) 1950 में (ख) 1955 में
(ग) 1956 में (घ) 1928 में
195. हरियाणा राज्य की स्थापना किस वर्ष की गई थी?
- (क) 1950 में (ख) 1952 में
(ग) 1956 में (घ) 1958 में

196. सबसे पहली बार किस दल ने भारत संघ से अलग होने की मांग की थी?
 (क) अकाली दल (ख) द्रविड़ मुनेन्नकडगम्
 (ग) नेशनल काङ्ग्रेस (घ) तेलगूदेशम
197. भारत में निम्न में से कौन-सा दल जाति पर आधारित है?
 (क) भारतीय जनता पार्टी (ख) जनता-दल
 (ग) आकाली दल (घ) द्रविड़ मुनेन्नकडगम्
198. निम्न राज्यों में से किस राज्य में जाति का प्रभाव कम है?
 (क) हिमाचल प्रदेश (ख) आन्ध्र प्रदेश
 (ग) कर्नाटक (घ) तमिलनाडू
199. निम्न राज्यों में से किस राज्य में जाति का प्रभाव सबसे अधिक है?
 (क) जम्मू-कश्मीर (ख) पंजाब
 (ग) हरियाणा (घ) हिमाचल प्रदेश
200. जाति के आधार पर स्थान सुरक्षित करने से निम्न में से किस व्यवस्था का प्रोत्साहन मिला है?
 (क) राजनैतिक दलों के निर्माण को (ख) राजनीति में भ्रष्टाचार को
 (ग) राजनीतिक में जातिवाद को (घ) उपर्युक्त में से किसी को नहीं
201. 'Caste in Indian Politics' पुस्तक के लेखक के नाम का चयन करो।
 (क) मौरिस जॉन्स (ख) रजनी कोठारी
 (ग) रूडोल्फ (घ) ग्रेनविल आस्टिन
202. डॉ. रजनी कोठारी ने जाति व्यवस्था और राजनीति में अन्तःक्रिया के सन्दर्भ में जाति-प्रथा के किसरूप का वर्णन नहीं किया है?
 (क) जाति-व्यवस्था को मौलिकरूप (ख) जाति-व्यवस्था का एकीकरणरूप
 (ग) जाति-व्यवस्था का चैतन्यरूप (घ) राजनैतिक दलों का जातीय आधार
203. निम्न में से कौन-सी जाति राजनीतिकरण की विशेषता नहीं है?
 (क) व्यक्ति का बांधने वाली कड़ी है (ख) एकीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी है
 (ग) जातियों को सुविधाएँ प्राप्त हुई (घ) भ्रष्टाचार में वृद्धि हुई है?
204. निम्न में से कौन-सी भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में जाति की भूमिका नहीं है?
 (क) चुनाव में उम्मीदवारों का चयन (ख) चुनाव प्रचार
 (ग) निर्णय प्रक्रिया में जाति की भूमिका (घ) प्रधानमंत्री का चयन
205. निम्न में से किस राज्य में ब्राह्मण और अबाह्यण के मध्य संघर्ष रहा है?
 (क) तमिलनाडू (ख) आन्ध्र प्रदेश
 (ग) कर्नाटक (घ) केरल

206. निम्नलिखित में से कौन-सा तत्व सम्प्रदायवाद के लिए उत्तरदायी नहीं है?
(क) कांग्रेस दल (ख) जनता दल
(ग) साम्यावादी दल (घ) मुस्लिम लीग
207. निम्नलिखित में कौन-सा तत्व सम्प्रदायवाद के लिए उत्तरदायी नहीं है?
(क) संविधान
(ख) औपनिवेशिक विरासत
(ग) राष्ट्रीय आन्दोलन की नकारात्मक विरासत
(घ) मुसलमानों से अलग रहने की भावना
208. भारत में क्षेत्रीयतावाद की समस्या को निम्नलिखित में से किसके द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है?
(क) भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन से (ख) धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार से
(ग) संघ और राज्यों के सम्बन्ध से (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
209. राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् की स्थापना किस वर्ष की गई थी?
(क) 1950 में (ख) 1955 में
(ग) 1956 में (घ) 1968 में
210. भारत में निम्नलिखित में से कौन-सा साम्प्रदायिकता का कारण नहीं है?
(क) यह ब्रिटिश शासन की नकारात्मक विरासत है
(ख) मुस्लिम लीग की स्थापना से साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिला
(ग) मुसलमानों में अलग रहने की भावना
(घ) संविधान की व्यवस्थाएँ

प्रश्न 1. राष्ट्रपति बनने के लिए कोई दो योग्यताएं लिखें।

उत्तर: (i) वह भारत का नागरिक हो।

(ii) वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

प्रश्न 2. राष्ट्रपति की चुनाव-प्रणाली के दो दोष लिखें।

उत्तर: (i) राष्ट्रपति की चुनाव-प्रणाली अप्रजातन्त्रात्मक है क्योंकि राष्ट्रपति का चुनाव प्रत्यक्ष जनता द्वारा नहीं होता।

(ii) यह प्रणाली बड़ी जटिल है।

प्रश्न 3. भारतीय गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति का नाम लिखो।

उत्तर: भारतीय गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद थे।

प्रश्न 4. भारत में राष्ट्रपति के चुनाव-मण्डल की रचना बताइए-

उत्तर: भारत के राष्ट्रपति का चुनाव एक चुनाव-मण्डल द्वारा होता है जिसमें लोकसभा और राज्यसभा के निर्वाचित सदस्य तथा राज्य की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होते हैं।

प्रश्न 5. राष्ट्रपति को कितने प्रकार की संकटकालीन शक्तियाँ प्राप्त हैं? उनमें से किसी एक प्रकार की शक्ति लिखें।

उत्तर: राष्ट्रपति को तीन प्रकार की संकटकालीन शक्तियाँ प्राप्त हैं? धारा 352 के अनुसार वह युद्ध, विदेशी आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह में उत्पन्न संकट के समय संकटकाल की घोषणा कर सकता है।

प्रश्न 6. राष्ट्रपति की कोई दो वैधानिक शक्तियाँ लिखें।

उत्तर: (i) राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों का अधिवेशन बुलाता है।

(ii) राष्ट्रपति संसद द्वारा पास किए गए बिलों को स्वीकृति प्रदान करता है।

प्रश्न 7. राष्ट्रपति राज्य का शासन कब हाथ में ले सकता है?

उत्तर: जब किसी राज्य में संवैधानिक मशीनरी असफल हो जाए तो राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत संवैधानिक संकट की घोषणा करके उस राज्य का शासन अपने हाथ में ले सकता है।

प्रश्न 8. राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों के दो दोष बताइए।

उत्तर: (i) राष्ट्रपति नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को स्थगित कर सकता है।

(ii) संकटकाल की घोषणा के समय संघीय ढाँचा एकात्मक में बदल जाता है।

प्रश्न 9. राष्ट्रपति के चुनाव में कौन-कौन भाग लेता है?

उत्तर: (i) राज्य विधानसभाओं के चुने हुए सदस्य।

(ii) संसद के चुने हुए सदस्य।

प्रश्न 10. राष्ट्रपति की दो कार्यपालिका शक्तियाँ बताइए।

उत्तर: (i) देश की सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ राष्ट्रपति द्वारा की जाती हैं।

(ii) राष्ट्रपति राष्ट्र की जल, स्थल और वायु सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति है।

प्रश्न 36. केन्द्रीय विधानपालिका का नाम क्या है?

उत्तर: संसद।

प्रश्न 37. भारतीय संसद में कितने संदन हैं?

उत्तर: भारतीय संसद में दो संदन हैं, (i) लोकसभा (निम्न संदन), (ii) राज्यसभा (उच्च संदन)।

प्रश्न 38. संविधान के अनुसार उच्च संदन की गणपूर्ति कितनी है?

उत्तर: संविधान के अनुसार उच्च संदन की गणपूर्ति कुल सदस्यों का 1/10 भाग निश्चित किया गया है।

प्रश्न 39. क्या भारत के राष्ट्रपति द्वारा राज्यसभा को भंग किया जा सकता है?

उत्तर: नहीं, अनुच्छेद 83 के अनुसार राज्यसभा को भंग नहीं किया जा सकता है।

प्रश्न 40. राज्यसभा के लिए कितने सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाते हैं?

उत्तर: 12 सदस्यों को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है, जो साहित्य, कला, विज्ञान तथा समाज सेवा आदि के कारण प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न 41. लोकसभा में अध्यक्ष को क्या कहा जाता है?

उत्तर: स्पीकर।

प्रश्न 42. संसद में धन बिल किसके द्वारा पेश किया जाता है।

उत्तर: वित्त मंत्री द्वारा।

प्रश्न 43. स्पीकर को कितना मासिक वेतन मिलता है?

उत्तर: 40000 रुपये।

प्रश्न 44. मन्त्रिमण्डल के कोई दो कार्य लिखो।

उत्तर: (i) मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय तथा विदेश-नीति का निर्माण करता है।
(ii) मन्त्रिमण्डल देश का प्रशासन चलाता है।

प्रश्न 45. मन्त्रिपरिषद् तथा मन्त्रिमण्डल में दो अन्तर बताइए:

उत्तर: (i) मन्त्रिमण्डल मन्त्रिपरिषद् का भाग है।
(ii) मन्त्रिपरिषद् में सभी मन्त्री होते हैं, जबकि मन्त्रिमण्डल में केवल महत्वपूर्ण मन्त्री होते हैं।

प्रश्न 46. मन्त्रियों की नियुक्ति कौन करता है?

उत्तर: राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की सलाह पर मन्त्रियों को नियुक्त करता है।

प्रश्न 47. भारतीय मन्त्रिमण्डल की कोई दो विशेषताएं बताइए।

उत्तर: (i) राष्ट्रपति नाममात्र का अध्यक्ष है, जबकि प्रधानमन्त्री सरकार का वास्तविक मुखिया है।
(ii) संसद तथा मन्त्रिमण्डल में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

प्रश्न 48. प्रधानमन्त्री के मन्त्रिमण्डल के नेता के रूप में दो कार्य बताइए।

उत्तर: (i) राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्श से मन्त्रि-परिषद् के अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है।
(ii) प्रधानमन्त्री मन्त्रियों में विभागों का वितरण करता है।

प्रश्न 49. प्रधानमंत्री किसका मुख्य सलाहकार होता है?

उत्तर: प्रधानमंत्री राष्ट्रपति का मुख्य सलाहकार होता है?

प्रश्न 50. “यदि हमारे संविधान में किसी अधिकारी की तुलना अमेरिका के राष्ट्रपति से की जा सकती है तो वह हमारे देश के प्रधानमंत्री हैं, राष्ट्रपति नहीं” यह कथन किसका है?

उत्तर: यह कथन डॉ० अम्बेडकर का है।

प्रश्न 51. केन्द्र को शक्तिशाली बनाने के कोई दो कारण बताइये।

उत्तर: (i) देश की विभिन्न समस्याओं का समाधान करके,
(ii) देश में राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता कायम करके।

प्रश्न 52. सरकारी आयोग की नियुक्ति का क्या उद्देश्य था?

उत्तर: सरकारी आयोग की नियुक्ति का उद्देश्य केन्द्र व राज्यों के सम्बन्धों को सुधारने के लिए सिफारिशें करना था।

प्रश्न 53. संघ और राज्य के बीच सम्बन्धों को कितने भागों में बाँटा गया है?

उत्तर: संघ और राज्यों के बीच सम्बन्धों को वैधानिक, प्रशासकीय तथा वित्तीय तीन भागों में बाँटा गया है।

प्रश्न 54. किसी एक परिस्थिति का वर्णन करें जब केन्द्र सरकार राज्य सूची पर भी कानून बना सकती है?

उत्तर: राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास करके राज्य सूची के किसी भी विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का मुद्दा घोषित करके कानून बनाने की शक्ति संसद को दे सकती है।

प्रश्न 55. संघ सूची में कितने विषय हैं?

उत्तर: संघ सूची में मूलरूप से 97 विषय हैं।

प्रश्न 56. भारत में सबसे उच्च न्यायालय कौन-सा है?

उत्तर: भारतीय संविधान के अनुच्छेद 124 में सुप्रीम कोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) को सबसे बड़े न्यायालय का दर्जा दिया गया है।

प्रश्न 57. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या कितनी है?

उत्तर: सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या एक मुख्य न्यायाधीश तथा 25 अन्य न्यायाधीश (कुल 26) हैं।

प्रश्न 58. सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए किन-किन योग्यताओं की जरूरत हैं?

उत्तर: (i) वह भारत का नागरिक हो।
(ii) वह किसी उच्च न्यायालय या दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयों में पाँच वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो।
(iii) वह किसी उच्च न्यायालय या दो से अधिक उच्च न्यायालयों में 10 वर्ष तक एडवोकेट रह चुका हो।

प्रश्न 59. क्या सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सेवा निवृत्ति के पश्चात् वकालत कर सकते हैं?

उत्तर: नहीं।

प्रश्न 60. सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों का मासिक वेतन कितना है?

उत्तर: सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को मासिक 33,000 रुपये तथा अन्य न्यायाधीशों को मासिक वेतन 30,000 रुपये मिलता है।

प्रश्न 61. किन्हीं तीन मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय दलों के नाम बताइए।

उत्तर: (i) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस
(ii) भारतीय जनता पार्टी
(iii) जनता दल

प्रश्न 62. अप्रैल 1998 में हुए लोकसभा चुनावों में चुनाव आयोग ने कितने राष्ट्रीय दलों को मान्यता प्रदान की थी?

उत्तर: 7 राजनीतिक दलों को।

प्रश्न 63. भारतीय जनता पार्टी किस दल से तथा कब गठित की गई?

उत्तर: भारतीय जनता पार्टी श्री अटल बिहारी वाजपेयी की अध्यक्षता में जनता पार्टी से 16 अप्रैल 1980 को गठित की गई।

प्रश्न 64. सन् 1998 में हुए लोकसभा चुनावों में कांग्रेस के घोषणा पत्र की दो विशेषताएं बताइए।

उत्तर: (i) अनुच्छेद 370 को बनाए रखा जाएगा।
(ii) अनुच्छेद के मुद्दे पर पार्टी उच्चतम न्यायालय के निर्णय को मानेगी।

प्रश्न 65. समता पार्टी की स्थापना कब और किस दल के विभाजन पर हुई?

उत्तर: समता पार्टी की स्थापना सन् 1994 में जनता दल के चौथे विभाजन के परिणामस्वरूप हुई।

प्रश्न 66. मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य चुनाव आयुक्त किस संवैधानिक अनुच्छेद व किसके द्वारा नियुक्त किए जाते हैं?

उत्तर: मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य चुनाव आयुक्त संविधान के अनुच्छेद 324(2) में राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

प्रश्न 67. मुख्य चुनाव आयुक्त को कैसे पद मुक्त किया जाता है?

उत्तर: मुख्य चुनाव आयुक्त को उसी तरीके से हटाया जा सकता है जैसे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को हटाया जाता है।

प्रश्न 68. चुनाव आयोग के दो कार्यों का वर्णन कीजिए।

उत्तर: (i) राष्ट्रीय दलों का पंजीकरण करना।
(ii) शान्तिपूर्ण चुनाव करना।

प्रश्न 69. सबसे पहले चुनाव सुधार के बारे में किस समिति का गठन किया गया?

उत्तर: तारकण्डे समिति का।

प्रश्न 70. भारतीय संविधान के किस संविधान संशोधन के अन्तर्गत मतदान का अधिकार 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष किया गया?

उत्तर: 61वें संविधान संशोधन के अन्तर्गत।

प्रश्न 71. ऐसे तीन क्षेत्रीय दलों के नाम बताइए, जो जाति के आधार पर गठित हैं।

उत्तर: (i) तमिलनाडु में डी० एम० के० तथा ए० आई० डी० एम० के०
(ii) पंजाब में अकाली दल
(iii) उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी।

प्रश्न 72. प्रो० रजनी कोठारी के अनुसार जाति व्यवस्था और राजनीति में अन्तःक्रिया के तीनरूप कौन-से प्रस्तुत किए हैं?

उत्तर: (i) लौकिकरूप
(ii) एकीकरणरूप
(iii) चैतन्यरूप

प्रश्न 73. जाति के राजनीतिकरण की दो विशेषताएं बताएं।

उत्तर: (i) जाति और राजनीति के सम्बन्ध स्थैतिक न होकर गतिशील हैं।
(ii) स्थानीय और राज्य राजनीति में जाति की भूमिका अहम् होना।

प्रश्न 74. जाति के आधार पर स्थान सुरक्षित करने से किस व्यवस्था को प्रोत्साहन मिला है?

उत्तर: राजनीति में जातिवाद को।

प्रश्न 75. राज्य राजनीति के अध्ययन कर्त्ताओं के अनुसार जातिवाद का पहला स्वरूप कहां मिलता है?

उत्तर: जातिवाद का पहला स्वरूप दक्षिणी भारत और विशेषकर तमिलनाडु में मिलता है।

प्रश्न 76. अंग्रेजी शासनकाल में साम्प्रदायिक भावनाओं को राजनीतिकरूप मिलने का क्या कारण था?

उत्तर: अंग्रेजी शासनकाल में साम्प्रदायिक भावनाओं को राजनीतिकरूप मिलने का एक कारण यहां प्रतिनिधि या निर्वाचित संस्थाओं की स्थापना की।

प्रश्न 77. स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी भारत में साम्प्रदायिकता के तत्त्व दिखाई देने के कोई तीन कारण बताओ।

उत्तर: (i) मुसलमानों में पृथक्करण की भावना।
(ii) मुसलमानों का आर्थिक दृष्टि से पिछड़ापन
(iii) संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद।

प्रश्न 78. साम्प्रदायिकता के तीन दुष्परिणाम बताओ।

उत्तर: (i) आपसीर द्वेष
(ii) राजनीतिक अस्थिरता
(iii) राष्ट्रीय एकता में बाधा।

प्रश्न 79. धर्म और पंथ निरपेक्ष संविधान अपनाए जाने के बाद भी भारतीय राजनीति के स्वरूप को कौन-से दो ढंग प्रभावित करते हैं?

उत्तर: (i) धर्म और राजनीतिक दल
(ii) धर्म और निर्वाचन।

प्रश्न 80. साम्प्रदायिकता को दूर करने के दो सुझाव बताइए।

उत्तर: (i) शिक्षण में आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश किया जाए।
(ii) सरकार द्वारा कोई ऐसा कार्य नहीं किया जाना चाहिए जिससे साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिले।

प्रश्न 81. अगस्त 1992 में हुए 71वें संविधान संशोधन के अनुसार कौन-सी भाषाओं को स्वीकार किया गया है?

उत्तर: (i) कोंकणी, (ii) मणिपुर, (iii) नेपाली।

प्रश्न 82. आज संविधान में कुल कितनी भाषाओं को स्वीकार किया गया है?

उत्तर: 18 भाषाएं।

प्रश्न 83. भारत की राजनीति में भाषा में जुड़ी हुई दो राजनीतिक समस्याओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर: (i) भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन।
(ii) भाषा के आधार पर उत्तर और दक्षिण भारत की संकुचित भावनाएं।

प्रश्न 84. भौगोलिक दृष्टि से भारत के पूर्वी तट की भाषाएं कौन-सी हैं?

उत्तर: (i) तमिल, (ii) तेलुगू, (iii) उड़िया और (iv) बंगला।

प्रश्न 85. भौगोलिक दृष्टि से भारत में पश्चिमी तट की भाषाएं कौन-सी हैं?

उत्तर: (i) मलयालम, (ii) कन्नड़, (iii) मराठी, (iv) गुजराती।

प्रश्न 86. भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयवाद के दो कारण बताओ।

उत्तर: (i) सांस्कृतिक कारण, (ii) आर्थिक कारण

प्रश्न 87. 1987 में किन राज्यों का पूर्ण राज्यों का दर्जा दिया गया?

उत्तर: (i) मिज़ोरम, (ii) अरुणाचल प्रदेश, (iii) गोआ।

प्रश्न 88. भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयवाद की चर्चा किन शीर्षकों के आधार पर की जा सकती है? कोई दो उदाहरण दीजिए।

उत्तर: (i) क्षेत्रीयवाद और पृथक राज्यों की मांग, (ii) क्षेत्रीयवाद और केन्द्र राज्य संघर्ष।

प्रश्न 89. क्षेत्रीयवाद के कारण भारतीय संघ से पृथक होने की प्रवृत्ति के दो उदाहरण दीजिए।

उत्तर: (i) खालिस्तान की मांग, (ii) पृथक् तेलंगाना आन्दोलन।

प्रश्न 90. क्षेत्रीयवाद के दुष्परिणामों के दो उदाहरण दीजिए।

उत्तर: (i) विभिन्न क्षेत्रों के बीच संघर्ष और तनाव।
(ii) राष्ट्रीय एकता को चुनोती।

प्रश्न 91. गरीबी उन्मूलन के लिए राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम कब शुरू किया गया?

उत्तर: राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम 1980 में शुरू किया गया।

प्रश्न 92. ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम को कब आरम्भ किया गया था?

उत्तर: यह कार्यक्रम 1983 में शुरू किया गया।

प्रश्न 93. राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम तथा ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम में कोई दो समानताएं बताइए।

उत्तर: (i) दोनों ही निर्धन ग्रामीणों के लिए थे।

(ii) दोनों ही मजदूरी का कुछ भाग अनाज के रूप में अदा करते थे।

प्रश्न 94. स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना को कब आरम्भ किया गया?

उत्तर: यह योजना 1 अप्रैल, 1999 को शुरू की गई।

प्रश्न 95. स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना में केन्द्र व राज्यों का कितना योगदान है?

उत्तर: इस योजना में केन्द्र का 75 प्रतिशत व राज्यों का 25 प्रतिशत योगदान होता है।

प्रश्न 96. हरियाणा में कितने प्रतिशत ग्रामीण गरीब थे?

उत्तर: 1999–2000 के आकड़ों के अनुसार यहां पर 41.2 प्रतिशत गरीब हैं।

प्रश्न 97. सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना को कब शुरू किया गया?

उत्तर: इस योजना को सितम्बर 2001 में शुरू किया गया।

प्रश्न 98. स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना के लिए 2003–2004 के बजट में कितना पैसा निर्धारित किया गया है?

उत्तर: इस योजना के लिए बजट 2003–04 में 800 करोड़ रुपया निर्धारित किया गया है।

